ज़्यादा अपनी : कम परायी—यद्यपि अश्क जी के नये संस्मरणों, व्यक्तिगत निबन्धों, डायरी के पृष्ठों, पत्रों और जीवनी सम्बन्धी ब्यौरों का संकलन है, लेकिन यदि इस सारी पुस्तक को संस्मरण का नाम दिया जाय तो गलत न होगा।

'मंटो : मेरा दुश्मन' लिखकर हिन्दी के संस्मरणात्मक साहित्य में अश्क ने जो नया पथ बनाया है, प्रस्तुत संग्रह उसी पर एक नये कदम की सूचना देता है। इसमें एक यात्रा-विवरण है, जो रेडियो की रनिंग कॉमेण्ट्री की तरह पाठक को धरती के उस स्वर्ग की सैर कराता है जिसका नाम कश्मीर है; तीन व्यक्तिगत निबन्ध हैं जो अश्क के लेखन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं; नाटक, उपन्यास और कवि-सम्मेलन सम्बन्धी बड़े चुलबुले संस्मरण हैं; डायरी के पृष्ठ हैं जिनमें लघु-कथा जैसा रस है; पत्र हैं जो ज़िन्दगी और उसके सुख-दुख के सम्बन्ध में लेखक की विचार-धारा का पता देते हैं; जीवनी के नोट्स हैं जो लेखक के जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर करते हैं और यह सब अश्क ने बड़ी ही मनोरंजक शैली में लिखा है, जिसके हास्य में अपूर्व गम्भीरता है और गम्भीरता में झीना-झीना हास्य है!

अश्क की ख्याति इधर अपने देश को लाँघकर जापान, इंग्लिस्तान और रूस में फैल गयी है। देश के विभिन्न राज्यों ही से नहीं, विदेश से भी उनके जीवन और लिखने-सोचने के सम्बन्ध में प्रश्न आते रहते हैं। हमें पूरी आशा है कि प्रस्तुत संग्रह अश्क के पाठकों की जिज्ञासा को कुछ-न-कुछ शान्त करेगा। हम प्रयास कर रहे हैं कि पाठकों की इच्छा को पूरा करते हुए हम [illegible] एक वृहद ग्रन्थ प्रकाशित करें, पर [illegible] को देखते हुए, उसमें काफ़ी [illegible]। आशा है प्रस्तुत संग्रह पाठकों की माँग को कुछ हद तक पूरा कर देगा।

ज़्यादा अपनी : कम परायी

ज़्यादा अपनी : कम परायी

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९५९

मूल्य ५)

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन—५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद-१
मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय—सम्मेलन मार्ग, प्रयाग

प्रकाशकीय

'ज्यादा अपनी : कम परायी'—का विज्ञापन गत वर्ष किया गया था। पिछले दस-बारह वर्षों में अश्क जी ने पचास-साठ लेख, संस्मरण और निबन्ध लिखे हैं। उनमें से कुछ का एक संग्रह 'रेखाएं और चित्र' के नाम से हमने छापा भी था। 'ज्यादा अपनी : कम परायी' में ऐसे लेख संकलित करने की योजना थी, जो अधिकांशतः व्यक्तिगत हैं। चूंकि लेख लिखे हुए थे, इसलिए ख्याल था कि केवल चुनकर उनका संकलन छाप दिया जायगा। पर जब अश्क जी से उनका चुनाव करने के लिए कहा गया और वे फाइल लेकर बैठे तो लेख चुनने के बाद स्वभावानुसार उनका संशोधन-परिवर्द्धन भी वे करने लगे, यहां तक कि इसी सिलसिले में 'मैं कैसे लिखता हूं?' उन्होंने दोबारा लिखा और 'मैं किसके लिए लिखता हूं?' बिल्कुल नया लिखा। और संकलन के छपने में एक वर्ष की देर हो गयी।

हम इस संकलन में उनकी डायरियों के कुछ पन्ने और उनके कुछ पत्र भी शामिल कर रहे हैं कि वह उनके व्यक्तित्व और विचारों पर ज्यादा प्रकाश डालते हैं।

अश्क जी प्रायः अत्यन्त रूखे, फीके और व्यावहारिक पत्र लिखते हैं, पर कभी-कभी उनके पत्र लम्बे, पठनीय और उपादेय भी होते हैं। इनको भी पुस्तक में देते समय अश्क जी ने एक नजर देख लिया है। एक पत्र ऐसा भी है जो उन्होंने लिखा तो ऐसे ही था, पर भेजा उसका किंचित् संक्षिप्त रूप। पत्र लिखते समय जो उनके मन में आया, वे लिख गये, पर भेजते समय वैसे नहीं भेजा। अपने वर्तमान रूप में यह पत्र उनकी भावनाओं का सही प्रतिनिधित्व उपस्थित करता है। डायरी के कुछ और पृष्ठ और तीन-

चार पत्र और देने की योजना थी, पर कागज़ बाज़ार में मिल नहीं रहा और संकलन बहुत बड़ा न हो जाय, इस डर से हम उन्हें किसी आगामी संकलन के लिए उठा रखते हैं।

अश्क जी के पाठक प्रायः उनके जीवन, लिखने-सोचने आदि के ढंग के सम्बन्ध में व्यक्तिगत प्रश्न लिख भेजते हैं और जब उनके सन्तोषप्रद उत्तर नहीं पाते तो शिकायत करते हैं। आशा है प्रस्तुत संग्रह संक्षिप्त रूप में उनके जीवन और विचारों के सम्बन्ध में बहुत सी जानने योग्य बातें बता देगा।

१९५४-५५ में अश्क जी कश्मीर गये थे। उन्होंने कश्मीर सम्बन्धी कहानियाँ भी लिखीं और उपन्यास भी, पर एक क्षुद्र यात्रा-विवरण भी लिखा। पाठकों के मनोरंजनार्थ उसे भी इस पुस्तक में संकलित कर दिया गया है। उसे 'कम परायी' का भाग समझ लिया जाय।

प्रकाशक

क्रम

यात्रा विवरण

क्यों ? कैसे ? किसके लिए ?

नयी-पुरानी डायरी

पुरानी डायरी के पन्ने

नयी डायरी के पृष्ठ

संस्मरण

पत्र

जीवनी के मोड़

यात्रा-वर्णन की विभिन्न शैलियाँ हैं। प्रचलित और लोकप्रिय शैली वही है, जिसमें प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ लेखक अपना, अपने साथियों का अथवा मार्ग में मिलने वाले विभिन्न पात्रों का चरित्र-चित्रण भी करता जाता है। मैंने जान-बूझकर अपने कथाकार को उस मोह से बचाया है। प्रस्तुत यात्रा-विवरण महज़ यात्रा-विवरण है। फ़िल्म अथवा रेडियो के रनिंग-कॉमेंटेटर की तरह यहाँ यात्रा-वाचक बस अथवा किश्ती में बैठा रास्ते के सौन्दर्य अथवा स्थानों का वर्णन करता जाता है। उसका या उसके साथी का कोई रूप पाठक के सामने नहीं उभरता।

प्रस्तुत यात्रा-विवरण का उद्देश्य कश्मीर के सौन्दर्य की सैर को जाने की इच्छा रखने वालों का पथ-निर्देश मात्र है। मेरे जो पाठक साथ-साथ कथा का रस भी पाना चाहते हैं, उनसे निवेदन है कि वे कश्मीर सम्बन्धी मेरा उपन्यास 'पत्थर अल-पत्थर' अथवा कहानी-संग्रह 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' पढ़ें। उन्हें निश्चय ही अलपत्थर, जेहलम और सिन्ध के सौन्दर्य के साथ-साथ वहाँ के वासियों अथवा यात्रियों के मनोविज्ञान की झलक भी मिलेगी। इस यात्रा-विवरण में उन स्थानों को मैंने नहीं छुआ।

अगर फ़िरदौस....[1]

कश्मीर की याद आते ही वह सब कुछ आँखों में घूम जाता है, जो इस हसीन, खूबसूरत घाटी के बारे में सुना या पढ़ा था। १९३७-३८ का जमाना, ५०-६० रुपये मासिक आय और मित्रों में एक ऐसे महानुभाव, जो हर बरस कश्मीर जाना जैसे धर्म का जरूरी अंग समझते थे। उनके ड्राइंग-रूम में बड़े-बड़े चौखटों में जड़े उन अनुपम [illegible] :

....गुलमर्ग के मैदान में, जहाँ [illegible]। चित्र में एक गहरी खाई-सा रास्ता बर्फ़ से ढकी एक कॉटेज तक जाता है। कॉटेज की छत [illegible] है जैसे किसी ने मानों सफ़ेद दूधिया शीशा उस पर [illegible] दी हो और जो छत के नीचे तक फैल आयी हो। उस गहरी [illegible] घाटी में मेरे वही मित्र शाल में रंगीन मफ़लर लपेटे, [illegible] गर्दनवाली एक युवती के साथ खड़े हैं।

....डल झील में बड़ा खूबसूरत हाउस-बोट। खिड़कियों के सफ़ेद [illegible]। ऊपर छत पर [illegible] है। [illegible] फूली हुई है, नीचे [illegible]।

---

१ [illegible] जहाँगीर के शेर का टुकड़ा। पूरे शेर का मतलब है—अगर दुनिया में स्वर्ग कहीं है तो यहीं है, यहीं है, यहीं है।

. . . .फिर निशात और शालामार, नन्दनवाड़ी और शेषनाग, अफ़रावट और अलपत्थर और न जाने कहाँ-कहाँ के चित्रों के एलबम तिपाइयों पर सावधानी से रखे हुए !

और आप मेरी हसरतों का अनुमान लगा सकते हैं।

*

इससे भी पहले कश्मीर की उस घाटी की झलक मैंने अपने स्कूल की किताबों में देखी थी। भूगोल की पुस्तक में पढ़ा था कि जेहलम नदी वेरी-नाग के चश्मे से निकलती है और कश्मीर की राजधानी श्रीनगर में से होती हुई एशिया की सबसे बड़ी झील 'वुल्लर' में एक तरफ़ से प्रवेश करके दूसरी ओर से निकल जाती है।

फिर अमरनाथ की गुफा में हिम का वह अनुपम शिवलिंग —हिन्दुओं का वह महान् तीर्थ —जिसके दर्शनों के लिए लोग मीलों बर्फ़ पर चले जाते हैं और संकटों की चिन्ता छोड़, दर्शन-लाभ कर मोक्ष पाते हैं. . . वेरीनाग का वह चश्मा कैसा है ? वुल्लर की वह झील कैसी है ? अमरनाथ [illegible] कैसी है ? [illegible] शिवलिंग कैसा है ? और मन में ऐसे [illegible] कबूतरों सरीखे फड़फड़ाने लगते और [illegible] उड़कर कश्मीर जा पहुँचें, जहाँ अनिर्वचनीय सुन्दरता के [illegible] अकथ गरीबी के हाथों [illegible] है।

[illegible] और तस्वीरें देखने की [illegible] दिल ही में लिये हुए मैं हिन्दुस्तान के [illegible]। फिर अचानक ५४ में ऐसा संयोग होता है कि गर्मियों में शिमला आते-जाते कश्मीर को [illegible] — कश्मीर को, [illegible] के शब्दों में धरती के [illegible]।

पठानकोट से कश्मीर की घाटी तक

पठानकोट से बस में जम्मू और फिर जम्मू से श्रीनगर—कहने में जितना आसान है, वास्तव में पहुँचना उतना आसान नहीं। लगातार दो दिन तक बस में यात्रा करनी पड़ती है। यह ठीक है कि हवाई जहाज एक-दो घण्टों ही में पठानकोट से श्रीनगर पहुँचा देता है, लेकिन हवाई जहाज में सफ़र करने वाला क्या-कुछ नहीं देख पाता, इसे वह तभी जानता है, जब वह बस की अगली सीट पर बैठकर यात्रा करता है। शरीर ज़रूर थक जाता है, पर मन करता है कि बस चलती रहे और एक-से-एक अनुपम दृश्य आँखों के आगे आता रहे।

पठानकोट से जम्मू तक रास्ते में यद्यपि कहीं पहाड़ नहीं, लेकिन कश्मीर की घाटी के इर्द-गिर्द बिछी पचासों उप-घाटियों और उपत्यकाओं में बहने वाले नदी-नाले जैसे पहाड़ों की कारा तोड़, उन्मद बह निकलते हैं। कदम-कदम पर सड़क उन नालों का स्वागत करने को झुकती, ऊपर-नीचे होती [illegible] है—बरसात के दिनों में बस किस प्रकार पानी को चीरकर [illegible] या पानी का ज़ोर ज़्यादा होने पर कैसे रुक जाती होगी — [illegible] नालों को [illegible] प्रश्न मन में उठता है।

जम्मू [illegible] हैं... पहले बिलकुल नंगी पहाड़ी, [illegible] के कन्धे पर झुकी, मीलों तक चली जाती [illegible] में [illegible] के नाले बहते हैं। फिर ज्यों-ज्यों हम आगे [illegible] मुड़ती, [illegible]

[illegible]

जिसके पानियों का गहरा जहरमोहरा* रंग झाग और मिट्टी के कारण हल्का होलदिली† लगता है, धीरे-धीरे दूर होता हुआ केवल सड़क के पलटने पर ही दिखायी देता है। पहाड़ के शिखर पर से उसकी सफ़ेदी ज़रा भी दिखायी नहीं देती — बस गहरे जहरमोहरे रंग की एक चमकती-सी लकीर-भर रह जाती है, जिसकी झलक मुड़ती हुई बस में से कुछ क्षण को दिखायी देती है। पहाड़ के शिखर से दूर, नीचे खड्ड में जैसे चिपकी-सी वह हरी-नीली रेखा मन में खुब जाती है, लेकिन इस बार जब बस मुड़ती है तो सड़क पहाड़ के दूसरी ओर उतर जाती है और यद्यपि मन चाहता है कि चनाब की वह छटा एक बार फिर दिखायी दे जाय, लेकिन पहाड़ उसे आँख से ओझल कर देता है और चीड़ और देवदार के जंगल आँखों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

पहले कुद, फिर बटोत और फिर बानिहाल — काश्मीर की घाटी से इधर एक से बढ़कर एक सुन्दर और स्वास्थ्यकर स्थान! जो बसें जम्मू से तड़के चलती हैं, वे बानिहाल रात गुज़ारती हैं, कुछ बटोत, कुछ कुद। बटोत कमज़ोर फेफड़े वालों का बहिश्त है। कुद की छटा शिमला-नैनीताल जितनी है। बानिहाल इसलिए प्रसिद्ध है कि वह जिस पहाड़ की छाया में बसा है, उसे पार कर यात्री कश्मीर की घाटी में प्रवेश पाते हैं। पहाड़ की ऊँचाई से कस्बे तक घाटी में धानों के खेत बिछे हैं और उनके बीचों-बीच 'बिछलड़ी' हल्के-हल्के सरकती है; दिन के शोर में उसकी आवाज

* Jade = गहरे हरे-नीले रंग का पत्थर जिसे घिस कर बच्चों को घुट्टी में डालते हैं।

† होलदिली = जहरमोहरे ही के प्रकार का बड़े हल्के हरे-नीले रंग का पत्थर, जिसे पुराने ज़माने के लोग उन बच्चों के गले में बाँधते हैं जिनका दिल कमज़ोर हो।

जाती है और हरमुख का अकेला शिखर निस्तब्ध पहाड़ों की ओट में हो जाता है और आँखों को शाली के फैले खेतों का धानी उजेला अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। सड़क के इधर या उधर बहते हुए पानी के रजबहे बरहों में बँटते, मीलों तक खेतों को सींचते चले जाते हैं।

सहसा एक दोराहे पर बस रुक जाती है — बायीं ओर के पानी भरे खेतों में पिंडलियाँ, पानी में डुबाये, फ़िरन घुटनों के ऊपर चढ़ाये, गोल तिकोनी टोपियाँ सिरों पर लिये, चार-चार, पाँच-पाँच की टोलियों में एक ही सीध में झुके हुए किसान धान रोपते दिखायी देते हैं। उनके गाने की धुन कानों में लहरा जाती है। मैं सुनने की कोशिश करता हूँ :

नौ बहार आव वतनि के यारो
निन्द्र करने नेर काश्तकारो

कश्मीरी गाना मैंने पहले कभी नहीं सुना। घाटी में दूर-दूर तक लहराती, अजीब सी उतार-चढ़ाव वाली उदासी से भरी यह तान मुझे बरबस अपनी ओर खींच लेती है। मैं गाना सुनता हूँ। कश्मीरी ड्राइवर से समझता हूँ :

नयी बहार आयी है वतन के दोस्त
धान रोपने निकल ऐ काश्तकार!
ऐ बहादुरों के सरदार,
धान रोपने निकल ऐ काश्तकार!

तेरा गुलशन खूबसूरत है,
दिल लुभाने वाला वसंत आ गया है,
इस गुलज़ार में गुल-ए-नसरीन सफ़ेद है,
धान रोपने निकल ऐ काश्तकार!

ऐ खुश-नसीब जमीन तेरी है।
इसे फलता-फूलता रख कि यह जिन्दगानी है।
बाज देने वाले वक्त का ताज सिर पर रख दे।
धान रोपने निकल ऐ काश्तकार !

नंगी धरती के घाव धोने निकल,
इस हूर को मखमल का लिबास पहना,
इसकी शान आकाश तक बुलन्द कर,
धान रोपने निकल ऐ काश्तकार !

वैरीनाग

इस दोराहे पर एक रास्ता श्रीनगर को जाता है, दूसरा वैरीनाग को। मुसाफ़िर रास्ते ही में ड्राइवर से तय कर लेते हैं कि [illegible] सवारी लेकर वैरीनाग लिया जायेगा। जब क्लीनर [illegible] वसूल कर लेता है तो बस वैरीनाग की ओर चल पड़ती है। [illegible] लगता है। वैरीनाग—[illegible]—वह चश्मा कैसा होगा, जेहलम [illegible] में खो जाता हूँ. . . .कि बस रुक जाती है, सब [illegible]।

मैं ड्राइवर से पूछता हूँ, "आ गया वैरीनाग?"

"जी हाँ!"

"कहाँ है?"

"जी, वहाँ!"

और [illegible] टैक्सी [illegible] कर देता है और मैं लोगों के पीछे पीछे चल पड़ता हूँ. . . . [illegible] कहीं भी [illegible] नज़र नहीं [illegible] शुरू होता है, [illegible] किनारे किनारे कुछ दूर [illegible]

हूँ तो एक ओर चौड़ी नहर-सी एक दीवार के नीचे से निकल उसी बाग के बीचों-बीच बहती दिखायी देती है।

"यही जेहलम है?" मैं पूछता हूँ।

"जी, यही जेहलम है!"

मन को निराशा होती है। बाग बड़ा सुन्दर, नहर उससे भी सुन्दर, पानी ऐसे हरे जहरमोहरे रंग का कि पहले कभी देखा नहीं। हाथ डालता हूँ—एकदम सर्द! घूमकर पूछता हूँ, "चश्मा कहाँ है?"

"इसके अन्दर!" ड्राइवर उत्तर देता है।

और भी निराशा होती है। ऊपर को बढ़ता हूँ, तथा देखता हूँ कि गहरे हरे जहरमोहरे रंग की अठकोनी बावली है। खेद होता है कि चश्मा क्यों नहीं है। लेकिन वह बावली इतनी सुन्दर कि आँखों की भूख उसे देखकर न मिटे। ढेरों मछलियाँ—लम्बी-लम्बी, काली-काली। मिठाई का एक टुकड़ा फेंकता हूँ—पानी ऐसा निर्मल कि दूर तक वह जाता दिखायी देता है। फिर उसे मछलियाँ आ दबोचती हैं। फिर एक बड़ा-सा टुकड़ा जरा परे फेंकता हूँ। कुछ देर तक वह टुकड़ा दिखायी देता है, फिर अचानक [illegible] है। यह आक्रमण कैसा है? बिजली-की-सी तेजी से [illegible] ... फिर चार-छः, फिर सौ जैसे बावली की सब मछलियाँ [illegible] एक दूसरी के ऊपर चढ़ दौड़ती हैं। पानी जैसे [illegible] आता है।

"यह ५८ फुट गहरा है साब! इसे जहाँगीर ने बनाया था, साब! It is beautiful साब! It was built in [illegible] साब!"

[illegible] कुण्ड सजायें, [illegible] वैरीनाग के बारे [illegible] जाना ही [illegible] है!

पण्डित जी बोलते जा रहे हैं :

"इधर देखिए साब, यह चश्मा Octagonal याने अठकोना है। यह किनारों के पास तो टेन (Ten) फ़ीट से ज्यादा गहरा नहीं, पर बीच में फ़िफ़्टी-फ़ोर फ़ीट गहरा है। मछलियाँ मारने की यहाँ इजाजत नहीं। यह देखिए दीवार में तख्ती जहाँगीर ने लगायी है। बाहर का खूबसूरत बाग़ जहाँगीर ने ही लगवाया है। आइए-आइए। इसकी परिक्रमा कर लीजिए। यह देखिए, जहाँगीर यहाँ बैठकर इस बावली की बहार देखते थे। इट इज़ वण्डरफुल साब, इट इज़ ब्यूटीफुल साब, काम, (Calm) क्वाइट (Quiet)। ऊपर से देखने पर लगता ही नहीं कि यहाँ से पानी भी निकलता है, लेकिन देखिए इतना पानी निकलता है कि दो नहरें दिन-रात इसी से बहती हैं...."

और मैं गाइड के पीछे-पीछे [illegible] और सेबों के पेड़ — खून के [illegible] किनारे हम चलते जाते हैं कि बाग़ के अन्त पर बड़ा शोर सुनायी देता है।

"यहाँ फ़ाल है साब। आबशार है। बहुत सुन्दर जगह है, साब! सम्राट जहाँगीर को यह जगह इतनी पसन्द थी कि मरने के बाद वह यहीं दफ़न होने की इच्छा रखता था।

*

[illegible] और मन की आँखों के सामने [illegible] का सब्ज़ी-मायल [illegible]!

[illegible]

दूसरे दिन इतवार है और इतवार को सारा श्रीनगर शालामार और निशात, डल और नगीन, चश्माशाही और नेहरू पार्क देखने निकल जाता है। हम भी दिन भर के लिए एक शिकारा तय करके चल पड़ते हैं।

डल झील और उसके बाग़

हम डल झील से होकर शालामार और निशात की सैर को जा रहे हैं, देखता हूँ कि आगे जाने वाले डोंगे में गाने की आवाज़ आ रही है। डोंगे में पर्दे पड़े हैं, रंगीन कश्मीरी गब्बे बिछे हैं और गाने वालों की एक पार्टी मस्त गाती-बजाती चली आ रही है।

"ये क्या गा रहे हैं?" मित्र से पूछता हूँ।

"ये छकरी गा रहे हैं।"

"क्या मतलब है इस गाने का?"

लेकिन मुझे मतलब बताने के पहले मित्र स्वयं भी झूम-झूमकर पैर और घुटनों से ताल देता गाने लगता है:

> बालियार नीरथ गोस वडव वडलिथे
>
> वसें हाव यावुन वडलिथे

[illegible] है और उसका नैसर्गिक शकुला जाता है। आखिर मेरे बार-बार [illegible] मुझे जल्दी-जल्दी उसका अर्थ समझाता है:

> ऐ सखि मैं किसे अपना यौवन दिखाऊँ?
>
> मेरा प्रीतम तो पहाड़ों की ओर चला गया है
>
> ऐ [illegible] गमले ऐ नरगिस, तेरा यह सोने का
>
> [illegible] चांदी की थाली किस लिए है?
>
> [illegible] तू खाली हाथ आयी
>
> ऐ सखि मैं किसे अपना यौवन दिखाऊँ?

यौवन के आकाश की चमकती बिजली,
स्वर्ग के नूर की मशाल,
सुन! कि तेरे साजन का कोई भरोसा नहीं
ऐ सखि मैं किसे अपना यौवन दिखाऊँ?

तू सन्यास ले ले!
कानों में प्रेम की बालियाँ पहन ले
तुम्हें वह 'हरमुख' पर मिलेगा,
तू पीर पंचाल की ओर जा
ऐ सखि मैं किसे अपना यौवन दिखाऊँ?

"शिकारा रोको!" —मैं चिल्लाता हूँ।

शिकारा रुक जाता है। डोंगे के पास। गाने की मस्ती फ़िज़ा में तैरने लगती है। गाना चल रहा है। समझ में नहीं आ रहा है, पर दिल को बहला रहा है, सुख-दुख के मिले-जुले भावों में डुबा रहा है।

*

गाना खत्म हो गया है। देखता हूँ—कि सामने—दूर जल का जैसे निस्सीम विस्तार है। मित्र बताता है कि यहीं [illegible] है। डल पहले बहुत ही बड़ी जगह घेरे थी, अब यह तीन-चार हिस्सों में बँट गयी है....बड़ी डल, छोटी [illegible] और [illegible]।

"[illegible] क्या डल नहीं है?" मैं [illegible]।

"यह भी डल है। [illegible] और कहीं गहरी है। [illegible]"

"[illegible]?"

"सब्ज़ी-तरकारी के हैं। पर ये खेत भी झील के पानी पर ही हैं, धरती पर नहीं।"

"क्या मतलब?"

"ये खेत झील पर तैरते हैं। कभी-कभार इनकी चोरी भी हो जाती है।"

"चोरी! खेतों की?"

"हाँ, जगह की यहाँ तंगी है। जितनी चाहिए उतनी धरती यहाँ नहीं है। जितनी धरती में फ़सल होती है, वहाँ मकई और धान उगायी जाती है, पर श्रीनगर को तरकारी चाहिए, सो लूक और मिट्टी की सहायता से यह खेत बना लिये गये हैं।"

"यह लूक क्या बला है?"

"यहाँ लम्बी-लम्बी जड़ों की घास, जो झील के पानियों में दिखायी देती है। इसे चुनकर, काटकर बड़े-बड़े गट्ठे बनाकर इन खेतों की जड़ें बनायी जाती हैं। इसी पर सब्ज़ी-तरकारी उगायी जाती है। रातों रात को डोंगी-शिकारों की मदद से खेत खेकर लोग खेतों की चोरी भी कर लेते हैं। ये बिलकुल एक जैसे हैं, इसलिए कई बार पता पाना मुश्किल हो जाता है।"

मैं हँसता हूँ—खेतों की चोरी पहली बार ही सुनी। तभी ध्यान बायीं ओर के जंगल की ओर जाता है। "क्या ये इतने पेड़ भी इन्हीं तैरने वाले खेतों पर लगे हैं?" मैं पूछता हूँ।

"बिल्कुल झूठा है। नहीं नहीं। किसी ज़माने में चाहे यहाँ पानी हो, पर अब नहीं।" वह कहता है, "ये चेद के पेड़ हैं। [illegible] [illegible] हैं।"

"पर [illegible] अपनी अक्लें हैं शहर वाले!"

"वह भी कम हो जाती है। सर्दियों में छः महीने कश्मीरवासी घरों के अन्दर बैठकर गुजारते हैं। तब काँगड़ी और कोयले ही गरीबों को बचाते हैं।"

"काँगड़ी! काँगड़ी क्या चीज है?"

"एक छोटी-सी मिट्टी की अँगीठी, जो बेंत से मढ़ी होती है। आप देख लेंगे। कश्मीरी उसे तापते हैं। कट-कशू....यानी बर्फ़बारी के दिनों में उसे फ़िरन के अन्दर लिये ही सो भी जाते हैं।"

"क्या उससे रजाई नहीं जलती?"

"जल भी जाती है, लेकिन फिर अभ्यास हो जाता है और नींद में भी उसका ख़याल रहता है।"

शिकारा हमारा काफ़ी तेज है। दो मल्लाह उसे चला रहे हैं। देखते-देखते बड़ी झील में पहुँच जाता है। स्वच्छ, निर्मल, गहरा नीला, मीठा जल! कहीं गन्द नहीं, मैल नहीं, काई नहीं; सामने शालामार की पहाड़ी, [illegible] पीर पिंजाल, महादेव की चोटी, बीच में चिनारों वाला बड़ा-सा टापू। बाक़ी सब जगह जल का जैसे निस्सीम विस्तार!

"यह टापू क्या है?" मैं पूछता हूँ।

"इसे सोनलंक यानी सोने की लंका कहते हैं।"

"सोने की लंका?"

"यह सोने की लंका है....वह दूर एक छोटा-सा [illegible]"

[illegible]

[illegible]

बँधकर नहर के रूप में दोनों बाग़ों के बीचोंबीच सीढ़ी-दर-सीढ़ी उतरते हैं। कश्मीर का शालामार और लाहौर का शालामार एक जैसा है। लाहौर का बाग़ ऊँचाई से नीचाई को जाता है। और शायद जहाँगीर ने लाहौर ही में कश्मीर के शालामार की याद ताज़ा करने को ज़मीन खोद-कर सीढ़ी-दर-सीढ़ी बनाया था। पर श्रीनगर का नीचे से ऊपर को चढ़ता है और पहाड़ी के दामन में बना है।

तराश-ख़राश में निशात शालामार से भिन्न है, बल्कि ज़्यादा सुन्दर है। एक यदि भरपूर बदन की आभूषण-अलंकारों से लदी सुन्दरी है तो दूसरी पतली छरहरी तन्वी.... जिसके आभूषण बहुत नहीं, पर जो हैं, बड़े आकर्षक और [illegible] हैं।

चश्माशाही डल से डेढ़-एक मील के अन्तर पर पहाड़ी के कुछ ऊपर है। पहले चाहे खुला रहा हो पर अब ऊपर से ढका है, ताकि उसका जल निर्मल रहे। चश्माशाही का जल पाचन-शक्ति को बढ़ाता है। डेढ़-दो मील चलकर डेढ़-दो गिलास पीने का शौक़ साधारण नहीं हो सकता।

दो-एक गिलास पीकर जिन्हें उस शौक़ के कारण प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हुई, हम बाहर छोटे-से [illegible] समय है; दूर हरिपर्वत के पीछे सूरज [illegible] पत्तियों में पड़ता हुआ अनुपम सौन्दर्य की [illegible] बादाम और बगूगोशों के पेड़ों पर छा गया है। [illegible] कुछ फ़क़ीर सूफ़ियाना गा रहे हैं और मैं तल्लीन सुन रहा हूँ। शब्द फ़ारसी के हैं, पर कश्मीरी उच्चारण में [illegible] पल्ले नहीं पड़ रहा। मित्र पण्डित [illegible] —

दूर से [illegible] चेहरे का [illegible] देखने से लाभ ?
बाग़ से फूल [illegible] न तोड़ने से लाभ ?

हर हाउस-बोट में सजे-बजे ड्राइंग-रूम, डाइनिंग-रूम, बेडरूम और बाथ-रूम हैं। शाम-सवेरे और चांदनी रातों में हाउस-बोटों में रहने में जो आनन्द मिलता है, वह बयान से बाहर है। नीचे नदी का बहता पानी, दूसरे किनारे शंकराचार्य या शालामार या पीर पंजाल या गोगजीबल की पहाड़ियां और ऊपर सारे वातावरण को ज्योत्स्ना से नहलाता हुआ चांद।

हर हाउस-बोट के साथ एक डोंगा रहता है। यहां चाहे तो मुसाफ़िर अपना खाना स्वयं पका सकता है या हाउस-बोट के मालिक से पकवा सकता है। हाउस-बोटों के मालिक बहुत अच्छे बावर्ची भी हैं और अंग्रेजों के साथ रहने से बहुत अच्छा खाना पकाना सीख गये हैं। लेकिन पहले पुल से सातवें पुल तक एक भी हाउस-बोट नहीं, यद्यपि यह हिस्सा डोंगों से भरा पड़ा है। इन डोंगों में आम मल्लाह रहते हैं, जो इन्हीं में जन्म लेते, पलते-बढ़ते, शादी-ब्याह करते, बूढ़े होते और मर जाते हैं।

बाद को श्रीनगर की माल रोड समझिए। सरकारी एम्पोरियम से लेकर पहले पुल तक दरिया के साथ-साथ एक बहुत साफ़ और खुली सड़क बनी है। एक ओर बड़ी-बड़ी दुकानें और दूसरी ओर मन्थर गति से बहता हुआ जेहलम।

[illegible]

"[illegible] साब! [illegible]"

"नहीं भाई, मैं [illegible]।"

"हम साब को [illegible] दिखलायेगा।"

मैं [illegible] पीछे-पीछे आता है।

"[illegible] साब!"

"नहीं अभी मैं बण्ड की सैर करूँगा।" — बाँध को वहाँ अँग्रेजों की नकल में सब मल्लाह बण्ड कहते हैं।

लेकिन बाँध पर भी नैनीताल या मसूरी या शिमला की माल की तरह शाम ही को रौनक होती है। धूप में लगभग अकेले घूमते-घूमते मैं ऊब जाता हूँ, इसलिए जब काफ़ी-हाउस के पास मेरा रास्ता रोककर एक शिकारे वाला फिर मुझे सेवेन ब्रिजेज़ की सैर करा लाने को कहता है तो मैं बाँध से उतर कर उसके शिकारे की स्प्रिंग-सीट में जा धँसता हूँ और दूसरे क्षण शिकारा जेहलम के बहाव पर बह चलता है।

"क्यों भई, क्या नाम है तुम्हारा?" कुछ क्षण बाद मैं शिकारे वाले से पूछता हूँ।

"सलाम साहब!"

"क्या तुम्हारा भी कोई हाउस-बोट है या शिकारा ही चलाते हो?"

"जी तीन शिकारा है, तीन डोंगा है।"

"तब तो भई, तुम बड़े आदमी हो।"

"जी साब, क्या बड़े आदमी [illegible] हो जाय, वही बड़ी बात है। [illegible] भाया, भूखा मर गया साब। [illegible]"

"[illegible] थे।"

"साब, [illegible] आप नहीं जानता।"

"[illegible]"

"जी साब, खुदा का फ़ज़ल है।"

"[illegible]?"

"[illegible]"

"[illegible]?"

"[illegible]"

"मुसाफ़िर न आये तो तुम्हें बड़ी तकलीफ़ होती होगी?"

"साब, कुछ न पूछिए, बहुत तकलीफ़ होता है। हमारा तो रोज़गार यही है। एक हाउस-बोट के लिए चार नौकर काम करता है। मेहतर, भिश्ती, रसोइया और शिकारा वाला।"

"क्या तुम उन्हें पगार देते हो?"

"पगार क्या साब?"

"यही तनख्वाह, महीने का पैसा।"

"जी साब, देता है।"

"क्या खाना तुम खुद नहीं पकाते?"

"जी साब, हमारा छोटा भाई पकाता है।"

"और पानी कौन लाता है?"

"साब, हमारा तीसरा छोटा भाई है।"

"तो फिर नौकर कहाँ हुए?"

"पर साब, उनका फ़ैमिली है। हमारा बूढ़ा बाप है, एक बेवा बहन है। सब का खर्च एक हाउस-बोट और तीन शिकारों से चलता है।"

"सर्दी में तुम कुछ काम नहीं करता है?"

"जी गर्म कपड़े बुनता है।"

"बेचता नहीं?"

"जी नहीं, मोटा कपड़ा बनाता है, बाल-बच्चों के काम आता है।"

बातों में पता नहीं चलता कि दायीं ओर से औरतों के गाने की सुरीली आवाज़ आती है।

"यह कौन-सी जगह है? यह क्या गाना हो रहा है?"... सहसा शिकारे वाले से पूछता हूँ।

"यह साब हज़रत की दरगाह है। औरतें रमज़ान के गीत गा रही हैं...."

"जरा शिकारा रोको।" मैं कहता हूँ।

शिकारा रुक जाता है। औरतें रमज़ान का गीत गा रही हैं। क्या गाती हैं, समझ में नहीं आता। शिकारे वाला मतलब समझाता है:

> सारे महीनों में कौन सा महीना अच्छा है?
> वह रमजान का महीना है।
> नबी साहब नेक थे जो रोजे के पाबन्द थे।
> मखदूम साब नेक थे जो रोजे के पाबन्द थे।

और रोजे के पाबन्द नेक लोगों के नाम गिनाता हुआ गाना चलता है। मैं शिकारे वाले के साथ शाह हमदान की मसजिद देखने जाता हूँ। सारी-की-सारी लकड़ी की बनी है। ईंटों की जगह बड़े-बड़े लकड़ी के टुकड़े लगे हैं। दीवारें लकड़ी की हैं, जिन पर कुरान की आयतें खुदी हैं। और मसजिद बहुत ही सुन्दर और दर्शनीय है। छत उसकी पैगोडे ऐसी है और दूर से बड़ी शानदार लगती है।

वापस आकर शिकारे पर [illegible] मेरी नजर अचानक [illegible] काफ़ी सिन्दूर पुता हुआ [illegible] है?"

"कालीमाई का मन्दिर [illegible]।"

"कालीमाई का मन्दिर कहाँ है?"

"इसी को हिन्दू लोग, साब, पूजते हैं।"

मैं फिर [illegible] देखता हूँ—पत्थर के घाट पर, जिसके [illegible] खड़ी है, सिन्दूर पुता हुआ है और [illegible] है.....

"[illegible] है?" ... मैं [illegible] पूछता हूँ।

"कालीमाई का [illegible] है।"

"लेकिन ऊपर तो मसजिद है।"

"मसजिद के नीचे से झरना आता है, और वह कालीमाई का है। हिन्दू यहाँ पूजा करते हैं, मुसलमान ऊपर।

"झगड़ा तो नहीं होता?"

"नहीं। कश्मीर में मिली-जुली ही संस्कृति है यहाँ। मुसलमानों की मसजिदों के साथ हिन्दुओं के धर्म-स्थान हैं। मुसलमान सूफियों को हिन्दू ऋषि कहते हैं। बल्कि मुसलमान भी उन्हें ऋषि कहते हैं। बाबा नूरुद्दीन हिन्दुओं में नुन्द ऋषि के नाम से मशहूर हैं। गुलमर्ग में बाबा पामदीन का मकबरा है, जिसे हिन्दू बाबा ऋषि कहते हैं। हिन्दुओं में ही नहीं, मुसलमानों में भी ये बाबा ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं। नामों और जातियों में सम्मिलित संस्कृति के चिह्न मिलते हैं। पंडित, भट्ट और तान्त्रिक मुसलमानों की भी जातियाँ हैं। और यही पण्डितों की। मुसलमान लड़की का नाम 'सुन्दरी' और हिन्दू का 'खबा' और 'मकबूल जू' नामों नरगिस आम सुनने को मिलता है। मन्दिर और मसजिदें साथ-साथ हैं और साथ, दोनों निश्शंक अपने-अपने मजहब के मुताबिक आराधना करते हैं।"

शाह हमदान की मसजिद के बाद मैं बीयर तक आता हूँ। बीयर जेहलम के बाँध का अंग्रेजी नाम है। [illegible] एक बड़े चौड़े छोटे-से प्रपात के रूप में नीचे गिरता है और थोड़ा आगे चलकर झील बुलर में दाखिल हो जाता है। बीयर के प्रपात से मछलियाँ [illegible] फिर ऊपर को आने की कोशिश [illegible] तबीयत [illegible]....

मानसबल और वुल्लर

बस पर मैंने जो निश्चय किया था, उसे मैं जल्द ही पूरा करता हूँ। साथी से पता चलता है कि कश्मीर की सरकार ने विजिटरों को दर्शनीय स्थान दिखाने की बड़ी अच्छी व्यवस्था कर रखी है। सोनामर्ग के लिए अभी रास्ता नहीं खुला, लेकिन गुलमर्ग और पहलगाम के रिटर्न-टिकट मिलते हैं और समय की कमी हो तो एक-एक दिन में इन स्थानों के दर्शन-भर किये जा सकते हैं। हफ्ते में दो बार बस मानसबल और वुल्लर का चक्कर लगाती हुई उसी शाम श्रीनगर वापस पहुँचा देती है। सो श्रीनगर के बाग-बगीचों और झेलम की सैर करने के बाद मैं अपने कश्मीरी मित्र से वुल्लर देखने की इच्छा प्रकट करता हूँ। मालूम होता है कि एक बस उसी दिन जा रही है, लेकिन मित्र परामर्श देता है कि अगली सीटें रिज़र्व हो चुकी होंगी, इसलिए उसमें जाना ठीक नहीं। ग़ैर-सरकारी बसें चलती हैं, पर उनके टाइम-टेबल का कोई भरोसा नहीं। चलना हो तो सरकारी बस ही में चलना चाहिए। सो हम पाँच दिन पहले ही जाकर दूसरे फेरे के लिए सीटें बुक करा आते हैं।

कश्मीर की घाटी झीलों की घाटी है। डल, नगीन, आंचार, हुक्कर के अलावा शेषनाग, कौसरनाग, तुलियन, अलपत्थर, गंगाबल, मानसबल, वुल्लर, तारसर, मारसर, तूबसर और न जाने कितनी झीलें उस घाटी में अपना सौन्दर्य बखेरती हैं।

यह अजीब बात है कि बस के रास्ते से मानसबल झील कितनी सुन्दर [illegible]

की अनुभूति देता है। पञ्जाबी यात्री मानसबल के किनारे बने गेस्टहाउस में चाय पीने और चाट खाने चले जाते हैं। बम्बई के कुछ मारवाड़ी युवक तनिक नीचे उतरकर झील के परिपार्श्व में एक दूसरे के फ़ोटो लेते हैं—सुन्दरता के परिपार्श्व में असुन्दरता के भोंडे फ़ोटो—मैं नीचे भी नहीं उतरता, वहीं सड़क की मेंड़ पर बैठा हल्के मेघों से भरे आकाश की पृष्ठभूमि में मानसबल के उस निर्मल, कोमल सौन्दर्य को मन के पर्दे पर उतारता रहता हूँ। बस का भोंपू बजता है। एक-एक कर सभी यात्री बस में आ बैठते हैं। मैं जैसे मानसबल को अपने साथ लिये हुए ही सब के पीछे अपनी सीट पर जाता हूँ।

बस न जाने कितनी देर बाद फिर रुकती है। वुल्लर! मैं चौंकता हूँ। सब उतर पड़ते हैं।

वुल्लर एशिया की सबसे बड़ी झील है। चौदह मील लम्बी और सात मील चौड़ी। मैंने अपने साथी से कई बार मानसरोवर-जैसे नीले, उसके और सीमाहीन पानियों की प्रशंसा सुनी है। पर सड़क की ऊँचाई से बहुत नीचे जिसकी ओर वुल्लर कहकर संकेत किया जाता है, वह तो एक महान जोहड़ दिखायी देता है। ऐसा जोहड़ जिसमें सब्ज़ी उगी है और पानी कहीं भी दिखायी नहीं देता।

"यह इसमें क्या उगा है?"

"सिंघाड़े"

"इन्हें निकाल क्यों नहीं देते?"

"इधर के पाँच-से-पाँच इन सिंघाड़ों पर जीते हैं।

ज़्यादा पूछने पर पता चलता है कि कश्मीर की घाटी में इतना अनाज नहीं होता, जिससे उसके [illegible] [illegible] किया जाता, [illegible] [illegible] गुज़ारा करता है।

"लेकिन क्या सारी-की-सारी वुल्लर में सिंघाड़े उगे हैं?"

"सारी में नहीं तो एक चौथाई या एक तिहाई में तो उगे ही हैं।"

दूर तक देखने पर भी सिंघाड़ों की हरियाली के सिवा कुछ दिखायी नहीं देता। निराश मैं बस में आ बैठता हूँ।

"इतनी बड़ी झील यहाँ कैसे बन गयी, केवल जेहलम ही के पानी से अथवा और भी नदी-नाले इसमें गिरते हैं?" सहसा मैं पूछता हूँ।

"जेहलम के अलावा इसमें गुजरबल और सोनरवाणी से आती हुई मधुमती अथवा मदमाती गिरती है। फिर वुल्लर के नीचे से सोते फूटते हैं। जहाँ सोते फूटते हैं वहाँ इसके जल की थाह पाना कठिन है।"

और मेरा साथी मुझे वुल्लर के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प किंवदन्ती सुनाता है:

"कहते हैं कि जहाँ अब वुल्लर झील है वहाँ प्राचीनतम काल में, सिन्धुमत नाम का बड़ा हरा-भरा नगर था, जिसका राजा बड़ा पापी था। उसी के राज में एक कुम्हार भी था जो [illegible] धर्मपरायण और धार्मिक था। जब राजा के पाप का प्याला [illegible]' के अनुसार राजा ही नहीं, [illegible] एक रात उस कुम्हार को [illegible] कहा कि राजा और प्रजा [illegible] बदल रहा है। [illegible] लेकर [illegible] जब तक चोटी [illegible]

[illegible]

मारकर वह चाक उठाये पहाड़ी पर चढ़ता गया कि सुबह हो गयी और सहसा उसने मुड़कर पीछे की ओर देखा—सारा-का-सारा नगर पानी में डूब रहा था। तब चाक को धरती पर टिकाकर वह चुपचाप खड़ा हो गया। लेकिन चाक पर निगाहें पड़ते ही वह चकित रह गया—आधे से ज्यादा चाक सोने का हो गया था।''

सड़क से वुल्लर का जो सिंघाड़ों-भरा भाग दिखायी देता है, उसमें आकर्षक कुछ नहीं। साथी एक नजर उस महान झील पर डालकर बस की ओर मुड़ते हैं। केवल कैमरों वाले मानबाशी नीचे पगडण्डी पर जाकर एक-दो फ़ोटो लेते हैं। उनके आते ही बस चल पड़ती है। चार-एक मील आगे चलकर सड़क के एक मोड़ से वुल्लर के विस्तार की एक झलक दिखायी देती है—हरी-हरी धरती पर बादलों में से झाँकते, सूरज की किरणों से चमकते जल का सीमाहीन विस्तार! मेरी निराशा मिट जाती है। लगता है कि बस उधर ही को शायद घुमाव लेकर जा रही है। लेकिन बाण्डीपुर (बाँदीपुर जिसे अंग्रेजों के अनुकरण में शायद कश्मीरी भी बाण्डीपुर कहते हैं) गुजर गया और वुल्लर की वह झलक फिर दिखायी नहीं दी। तब सहसा मैंने अपने साथी से पूछा कि क्या हम वुल्लर को नहीं जा रहे।

"नहीं हम सोपुर होते हुए बारामूला जायेंगे।"

"और वुल्लर?"

"वुल्लर बाण्डीपुर से छह-सात मील उधर रह जाती है।" और साथी हाथ से सड़क के बायीं ओर संकेत कर देता है।

मुझे बड़ी निराशा होती है। साथी से [illegible] [illegible] एशिया की सबसे बड़ी झील है। उसे देखे बिना जाने का अफ़सोस रहेगा।"

"वुल्लर को देखना हो तो दोबारा लेकर आइए। वुल्लर के साथ निशात [illegible]" [illegible]

"[illegible]?" मैं आश्चर्य से पूछता हूँ।

"जी हाँ, डोंगा किराये पर कर लीजिए और दरिया-दरिया वुल्लर पहुँचकर उसे पार कीजिए।"

"लेकिन कहीं बारह बजे के बाद वुल्लर पार न कीजिएगा।" एक दूसरा कश्मीरी यात्री कहता है। "बारह बजे के बाद वुल्लर में सदा तूफ़ान उठते हैं और डोंगे उलट जाते हैं। पहली रात वुल्लर के किनारे बानियारी में काटिए, दूसरी सुबह चार-पाँच बजे उठकर वुल्लर पार कीजिए।"

"ये रातें भी तो मल्लाह नहीं जायँगे।" मेरा साथी कहता है। और बताता है कि बारह बजे के बाद वुल्लर को उत्तर-पूरब और दक्षिण-पूरब से बड़े जोरों की हवाएँ चलती हैं। कभी पहली, कभी दूसरी। वुल्लर में दीवारों-सी ऊँची लहरें उठती हैं और डोंगे उलट जाते हैं।

"कई बरस पहले बड़ी भारी ट्रैजेडी हो गयी थी।" हमारी पिछली सीट पर बैठा कश्मीरी यात्री बताता है, "[illegible] मुकाबिला [illegible] था। बानियारी की ओर से वुल्लर को पार [illegible] नज़दीक के सभी जवान तैराक मुकाबिले [illegible] ([illegible]) [illegible] चलने लगी। [illegible] किनारे से दूर थे। [illegible] छा गया।"

"क्या मल्लाह साथ नहीं आये थे?" सहसा मैं पूछता हूँ।

"मल्लाह थे और वही किसी तरह बच पाये। लड़कों को तैरना सिखाने वाला केवल एक प्रोफ़ेसर बचा और बस...."

"तैरने वाले थके हुए भी तो थे।" मेरा साथी कहता है, "प्रोफ़ेसर तो डोंगे से कूदा था।"

"[illegible] थीं?" मैं सहसा पूछता हूँ।

"[illegible] पहाड़ों की ओर से हवाएँ चलती

हैं तो सदा निंगल की ओर को लहरें बहती हैं और तैराक तो बाण्डीपुर को जा रहे थे, निंगल की ओर को भटक गये होंगे और उधर तो पाट चौदह मील का है।"

"उस ट्रेजेडी के बाद कभी बारह बजे दिन के उपरान्त कोई डोंगा वुल्लर पार करने का साहस नहीं करता।" साथी बताता है।

वुल्लर के तूफ़ान की चपेट में आये हुए तैराक युवकों की ट्रेजेडी सुनकर मुझे रोमाञ्च हो आता है। लेकिन तभी सोपुर आ जाता है। वर्षा होने लगती है। हम भीगते हुए, बाजार में से होते हुए, अड्डे पर जा सकते हैं।

सोपुर को राजा अवन्ती वर्मन के इञ्जीनियर सोया ने बसाया था और इसीलिए इसका नाम सोपुर पड़ा। अवन्ती वर्मन के इस इञ्जीनियर की चातुरी के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प बात साथी बताता है। जेहलम में बारहमूला तक किश्ती चलती है, लेकिन बारहमूला के बाद जेहलम का पाट छोटा होता-होता बहुत ही तंग रास्ते से बहता है। यह रास्ता पहले दरिया की सतह से ऊँचा था, चट्टानें अथवा पत्थर उसमें जमे थे। बसन्त ऋतु में जब बर्फ़ें पिघलतीं और दरिया में बाढ़ आती तो पानी पहाड़ी दीवार से विफल टक्करें मारता। इतने तंग रास्ते से इतना पानी कैसे जाता? वहाँ पानी-ही-पानी हो जाता। सोया ने उस रास्ते को गहरा बनाने का बड़ा [illegible] और कंकड़-पत्थर [illegible] बहुत सा धन वहाँ [illegible] धन मिलेगा, उसी का हो जायगा। तब दूर-दूर से निपुण गोताखोर आये और एक-एक पत्थर वहाँ से हटा दिया गया और कई वर्षों के लिए बारहमूला बाढ़ के [illegible]।

[illegible] भारी मण्डी थी। इधर के सारे [illegible] वहीं से [illegible]

बारहमूला पहुँचता था और वहाँ से पिण्डी जाता था। अब सोपुर का महत्व घट गया है।

बारहमूला

वर्षा बाण्डीपुर ही से होने लगी थी। बस सोपुर कुछ ही मिनट रुकती है। बारहमूला से कई मील इधर, जहाँ सोपुर से बस बारहमूला की सड़क पर पहुँच बायीं ओर को मुड़ती है, दायीं ओर को सड़क पर एक साइन-बोर्ड लगा दिखायी देता है, जिसपर लिखा हुआ है—'उड़ी'। मैं साथी से पूछता हूँ कि क्या वह कभी उड़ी गया है। वो बताता है कि विभाजन से पहले गया था, लेकिन अब तो वह इलाका फ्रण्ट पर है, परमिट लेकर आना पड़ता है।

बाहर हल्की-हल्की बूँदियाँ पड़ रही हैं। बस में विभाजन के बाद की बातें छिड़ जाती हैं। कबाइलियों का अड्डा बारहमूला ही था। यहीं से वे एक ओर सोपुर होते हुए बाण्डीपुर और दूसरी ओर टंगमर्ग और गुलमर्ग तथा तीसरी ओर सीधे बारहमूला की सड़क पर श्रीनगर की तरफ़ बढ़े थे। यदि [illegible] के बदले वे सीधे बढ़ जाते; बारहमूला के [illegible] ग़लत रास्ते न भटका देते तो श्रीनगर निश्चय ही [illegible] में फँस जाता और जो रक्तपात पंजाब में मचा, वह [illegible] कश्मीर में मचता।

[illegible] देखता हूँ—एक [illegible] बरसातियाँ [illegible] ओर को जा रहे हैं।

[illegible]

[illegible]

वीर की समाधि है, जिसने हवाई जहाज से उतरते ही, बिना कश्मीर के रास्तों को जाने, बिना कबाइलियों की शक्ति का पता लगाये, अपनी छोटी-सी साहसी टुकड़ी के साथ श्रीनगर से आगे तीस मील तक धावा बोला था। कबाइली बारामूला से छः मील पीछे हट गये थे कि रात पड़ गयी, इसलिए कर्नल राय ने छः मील पीछे हटकर इस पहाड़ी पर मोरचा लगाया। बारामूला शहर में रात गुजारना उन्होंने उचित नहीं समझा। रात को कबाइलियों ने चारों ओर से पहाड़ी को घेर लिया और कर्नल राय और उनके वीर सेनानी एक-एक कर भिड़ गये, लेकिन पीछे नहीं हटे।

नन्ही-नन्ही बूंदियां पड़ रही हैं। सभी एक बार समाधि पर जड़े स्मृति पत्थर पर खुदे शब्दों को पढ़कर वापस बस की ओर आ रहे हैं। कर्नल राय की सुन्दर आकृति मेरी आंखों के सामने घूम जाती है—उनका चित्र मैंने किसी अखबार में देखा था—कश्मीर की राजनीति में न भी जायें, भारत अथवा पाकिस्तान के अधिकारों की खींचा-तान में भी न पड़ें तो भी उन बहादुरों के लिए मस्तक अनायास श्रद्धा से नत हो जाता है, जो यह जानते हुए भी कि वे मौत के मुंह में जा रहे हैं, पैर बढ़ाते हुए बढ़ गये, जैसे कि [illegible] खिलवाड़ करने जा रहे हों।

[illegible] दिन आगे न बढ़ आते तो भारतीय सेना को वह बहुमूल्य समय न मिल [illegible] हो जाती। कर्नल राय यदि [illegible] कबाइलियों के हाथों श्रीनगरियों, विशे[illegible] और उसकी प्रति-क्रिया भारत पर [illegible] जिसे कश्मीर ने [illegible] में [illegible] ही से [illegible]

समाधि के पास पहुँचकर, श्रद्धा से उस वीर सेनानी की स्मृति के समक्ष मस्तक झुकाकर मैं वापस मुड़ता हूँ। बस चल पड़ती है। बाजार के शुरू ही में मेरा साथी बायीं ओर की एक इमारत की ओर संकेत कर कहता है कि यह 'रंगीना टाकीज' है। यहीं आक्रमणकारी कबाइलियों ने अपना मुख्य अड्डा स्थापित किया था और इसी की दीवार के साथ महात्मा ईसा की तरह बारहमूला के शहीद महमूद अहमद शेरवानी के हाथों में कीलें गाड़कर उसे गोलियों का निशाना [illegible] था। चौबीस घण्टे तक उनका शव वैसा ही पड़ा रहा [illegible] के मारे कोई उनके निकट न आया था और 'रंगीना टाकीज' के परिपार्श्व में गिरजे का गुम्बद उस शहादत की पुनरावृत्ति को मौन रूप से तकता रहा था। चौबीस घण्टे बाद ही भारतीय सेना ने बारहमूला पर अधिकार कर लिया था और कबाइली वहाँ को भाग गये थे और शेरवानी के शव को सैनिक सम्मान के साथ दफनाया गया था।

बस पलक झपकते गुजर जाती है, लेकिन मन [illegible] आक्रमण के समय कश्मीर की इस सुन्दर घाटी पर सहसा [illegible] में उलझा रह जाता है।

[illegible] के [illegible] एक [illegible] दर्शनीय पुल है। [illegible] था। यहीं [illegible]। लेकिन [illegible] कहता है कि [illegible] हाँ, बस के [illegible]

"साब, आप चाय-वाय पी लीजिए। पानी गिर रहा है। हमको वक्त से वापस पहुँचना है।" ड्राइवर उत्तर देता है।

सरकारी बस है—दिन भर में मानसबल, वुल्लर, सोपुर, बारहमूला का चक्कर लगाकर वापस शाम को श्रीनगर पहुँचा देती है। उसके टाइम का ख़याल रखना ज़रूरी है। साथी भी यही सलाह देते हैं कि भीगते पानी में पहले दो कप चाय पी जाय, बारहमूला देखने फिर आयेंगे।

बरसातियाँ सम्हालकर बस से उतरते हैं। भीगती सड़क पर फिसलन से बचते हुए सड़क के पार ढाबे पर जा बैठते हैं। सिक्ख का ढाबा है। भट्ठी पर बड़े-से पतीले में पानी उबल रहा है। धुएँ-सी काली केतली में पैकेट की चूरा चाय और पतीले से दो मग उबलता पानी डाल, बड़ी-सी छलनी में छानकर सरदार जी गिलासों में चाय दे रहे हैं। कुछ लोग बाज़ार की बहार देखते हुए दुकान के चबूतरे पर लगी बेंचों पर बैठे हैं। लेकिन चबूतरे पर जगह तंग हो गयी है। बेंचों पर भारी ठसाठस बैठे हैं।

"बादशाहो तुसीं अन्दर मेज़ों ते बैठो। तुसीं वा डिब्बे दा।" सरदार जी बड़े मृदुभाषी हैं। गिलास लौंडे को देते हुए कहते हैं।

अन्दर वही पञ्जाबी ढाबों की चिर-परिचित मैली काली मेज़ें, वही धब्बों से भरे मेज़पोश और वही उमस।

लेकिन बरसते पानी और ठण्ड में वहाँ बैठना अच्छा लगता है। [illegible] कि हमें ट्रे में चाय नहीं मिल सकती।

"क्यों नहीं मिल [illegible] कुछ मिल सकता है।"

और कुछ क्षण बाद एक टेढ़ी-सी ट्रे में चाय आती है। चायदानी की टोंटी टूटी हुई है, दूधदानी [illegible] लेकिन सरदार [illegible]

[illegible]

सरदार जी इस दुखद प्रसंग को टाल जाते हैं। "नहीं बादशाहो असां श्रीनगर सां," और यह कहते हुए बाहर चले जाते हैं।

चाय पीते हुए भी मन उन्हीं दिनों की घटनाओं में उलझा रहता है। बारहमूला कबाइलियों का अड्डा था। तेरह दिन तक यहाँ उनका शासन रहा। इस गाँव के पण्डितों और सिक्खों और कारोबारियों पर कैसी बीती होगी. . . .लेकिन तभी बस का भोंपू बजता है।

हम बस में आ बैठते हैं और बस चल पड़ती है।

बारहमूला से श्रीनगर को आते हुए एक जगह एक दूसरी सड़क दायीं ओर से आ मिलती है। पता चलता है कि यह गुलमर्ग से आयी है।

बारहमूला से आने वाली सड़क बड़ी मनमोहक है। रास्ते में सड़क के दोनों ओर गगनचुम्बी सफ़ेदों की कतारें मन पर अमिट नक्श छोड़ जाती हैं। पूछने पर मालूम होता है कि इन सफ़ेदों को सम्राज्ञी नूरजहाँ ने लगवाया था। दायीं ओर छोटे-छोटे टीले और धान के खेत। मन का कलुष धुल जाता है।

*

थका पर सुख-दुख के मिले-जुले भावों से भरा अपने अड्डे पर लौटता [illegible]

[illegible] जाता हूँ और मेरा [illegible]

सिन्ध की घाटी में

तुल्बुल से लौटने के तीसरे दिन मेरा साथी खबर लाता है कि सोना-मर्ग का रास्ता खुल गया है और चौथे दिन पहली बस जा रही है। मैं उससे तत्काल सीटें बुक कराने की प्रार्थना करता हूँ। सोनामर्ग देखने को मैं बड़ा उत्सुक हूँ। यदि श्रीनगर से ६० मील की दूरी पर न होता और वहाँ रहने-सहने का कोई प्रबन्ध होता तो मैं पैदल ही चला जाता। पर जोजीला दर्रे को चूँकि सोनामर्ग ही से मार्ग जाता है और पाकिस्तान की हदें उधर से मिलती हैं, इसलिए वह सैनिक छावनी है, वहाँ रात को रहने की आज्ञा नहीं। पहाड़ों के फ़ोटो तक लेना वर्जित है।

सोनामर्ग की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। कुछ लोगों की राय में सोना-मर्ग गुलमर्ग से भी सुन्दर है और सोनामर्ग का ग्लेशियर कश्मीर के सुन्दर-तम ग्लेशियरों में से है। चूँकि उस वर्ष बर्फ़ फ़रवरी-मार्च में भी पड़ी थी, इसलिए मेरे मित्र का ख़याल है कि सोनामर्ग अपनी पूरी आन-बान से दिखायी देगा।

शनि की सुबह को हम छः बजे उठते हैं। अण्डे और टमाटर के सैण्ड-विच तैयार करा, टिफ़िन कैरियर में रख लेते हैं। सैण्डविच मुझे बहुत ज्यादा लगते हैं, पर साथी कहता है कि [illegible] रास्ता है, यदि कहीं थोड़ा न मिले तो [illegible] खाना साथ में कुछ ज्यादा रहे तो बुरा नहीं।

सोनामर्ग सिन्ध की घाटी में है और सिन्ध की घाटी कश्मीर की अत्यन्त सुन्दर घाटियों में से है।

बस [illegible] गयी है। [illegible] हल अपने [illegible] भी बन [illegible] शान्धकल [illegible] जिस

पहाड़ की छाया में बसा है, उसी का सीना काटकर सिन्ध नदी से एक नहर हाइड्रल स्टेशन से पहाड़-पहाड़ यहाँ तक लायी गयी है। यह एक कृत्रिम प्रपात के रूप में यहाँ गिरती है और इससे टर्बाइन्स चलती हैं। श्रीनगर को पहले जिस एलेक्ट्रिक स्टेशन से बिजली सप्लाई होती थी, वह चूँकि कबाइलियों ने तहस-नहस कर दिया था, इसलिए पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह नया स्टेशन बन रहा है। चलती बस से वह कृत्रिम प्रपात बड़ा भला लगता है।

उसके बाद बस ही में बैठे-बैठे अनायास आँखें दायीं ओर के पहाड़ पर लकीर-सी खिंची उस नहर की ओर चली जाती हैं। यद्यपि नहर की ढलान गान्धरबल की ओर है, पर चूँकि ज्यों-ज्यों सड़क ऊपर चढ़ती जाती है, नहर नीची होती जाती है, [illegible] है। पहाड़ एकदम [illegible] सायी में [illegible] का मार्ग भी है। पर नीचे से कुछ भी दिखाई नहीं देता, [illegible] लकीर ही दिखायी देती है। [illegible] आ जाती है. . . . कि दायीं ओर पानी का शोर सुनायी देता है। पहली बार सिन्ध के दर्शन होते हैं—सब्ज़ी-मायल, गहरा नीला जल। दो धारायें यहाँ मिलती हैं। पुल पार कर हम कुछ ही आगे हाइड्रल स्टेशन पर पहुँचते हैं। यहाँ सिन्ध की दो खिड़कियों से [illegible] [illegible] [illegible] आदीपुर के संगम पर [illegible] सिन्ध में मिलती [illegible] [illegible]।

[illegible]

भरे पहाड़ और सड़क के दायीं ओर पहाड़ के नीचे बहता सिन्ध ! पानी उत्तरा साफ होता जाता है । उसकी गहराई कटती जाती है और वह पिघले हुए जहरमोहरे-सा दिखायी देता है । आँखें और किसी तरफ़ देखना ही नहीं चाहतीं ।

कहीं पहाड़ के झुके पेड़ आधे दरिया पर छाये हुए हैं और कहीं चाँस (ओक) अथवा देवदार का कोई बड़ा तना जड़ से उखड़कर नदी पर आर-पार लेटा है। पानी उससे टकराता है तो हरा-नीला जल दूधिया फुहार उड़ा देता है।

'कंगन' से होते हुए हम गुण्ड पहुँचते हैं। यहाँ सेना की चौकी है। सड़क एक अस्थायी फाटक से रुकी है। आगे बढ़ने के लिए परमिट लेनी पड़ती है। बायीं ओर खुली जगह में सड़क से कुछ ऊपर खेत हैं, जिनके परे पहाड़ों पर बादल लटक रहे हैं, दायीं ओर फ़ौजियों के अर्ध-स्थायी क्वार्टर हैं। नदी का शोर यहाँ काफ़ी है। जितने में ड्राइवर परमिट ले, हम सैनिक क्वार्टरों के पीछे नदी की बहार देखने जा पहुँचते हैं। यहाँ नदी छोटा-सा मोड़ लेती है। बीच में दो चट्टानें जाने कब से पड़ी हैं। मार्ग तंग होने से नदी शोर मचाती, झाग उड़ाती, चट्टानों में से होकर नीचे गिरती है। पानी वहाँ बेहद तेज है।

मन होता है, किसी तरह इधर की चट्टान पर चढ़ जायें। ढलान पर बैठी भूरी भैंस की पीठ-सी वह चट्टान वहाँ पड़ी है। नीचे काई जम गयी है, पर उसकी चिकनी काली पीठ धूप में चमक रही है। ठण्ड बहुत है। मफ़लर को [illegible] पर [illegible] लेता हूँ; कुछ साथी और कुछ छड़ी की मदद से [illegible], गिरते-फिसलते मैं अकेला चट्टान पर जा चढ़ता हूँ और उस छोर से मार्ग में उछलते, उफनते पानी को देखता हूँ। [illegible]
[illegible]

देता है। सम्हलकर चट्टान से उतरते हैं। जल्दी, लेकिन पूरी सावधानी से किनारे पर चढ़ते हैं और आकर बस में बैठ जाते हैं।

सड़क एकदम नदी के किनारे-किनारे चलती है। नदी का जल और भी साफ़, चमकते, गहरे सब्ज़ी-मायल नीले रंग का हो जाता है---बर्फ़ानी, बिल्कुल वेरीनाग के जल ऐसा। एक जगह, जहाँ पाट चौड़ा है, पानी इतना स्वच्छ है कि नीचे पथरीली कंकरियाँ साफ़ दिखायी देती हैं और जल उन पर से मलमल के दुपट्टे सा सरकता जा रहा है। रंग भी उसका गहरे जहर-मोहरे की अपेक्षा हल्का हौलदिली हो गया है। निश्चय ही हम बर्फ़ानी पहाड़ों के निकट पहुँच रहे हैं। पञ्जाब में हौलदिली रंग का पत्थर सोने में जड़वाकर बच्चों को पहनाते हैं। हल्का हरा जिसमें किञ्चित नीलाहट मिली हो। मुझे अपने बचपन के दिनों की याद आ जाती है, जब जहर-मोहरे की घुट्टी मेरे नन्हे भाई को मिलती थी और मेरे गले में सोने से मढ़ी [illegible] हौलदिली थी। तब क्या मालूम था कि इस रंग का पानी [illegible] है।

गुण्ड से कुछ ही दूर आगे बस रुक जाती है। सभी उतर पड़ते हैं। यहाँ बर्फ़ ने रास्ता रोक रखा है। हम देखते हैं कि दायीं ओर के पहाड़ से उतरकर बर्फ़ नदी पर पुल बनाती हुई सड़क पर आ गयी है। पुल टूट चुका है, पहाड़ की ओर बर्फ़ पुल पर झुकी है, जिसको नीचे से काटकर सिन्ध बह रहा है। नदी ने बर्फ़ को तोड़ दिया है, लेकिन सड़क पर अभी तक बर्फ़ जमी है। कुली उसे काट रहे हैं। बेलचे थामे दो-दो मजदूर लगे हैं। बेलचों में रस्सियाँ बँधी हैं। एक मजदूर बेलचे से बर्फ़ [illegible] है और दोनों रस्सी और [illegible] की [illegible] में [illegible] रहे हैं। अभी [illegible] नहीं [illegible], [illegible] है। [illegible] पैरों [illegible] नदी [illegible]। [illegible] पर [illegible] और [illegible]

डालकर उसकी चमक छीन ली है। लेकिन रास्ते के बायीं ओर को, जहाँ से उसे काटा गया है, हमारी गर्दनों तक बर्फ़ की दीवार खड़ी है और उसमें बर्फ़ की कई तहें चमकती दिखायी दे रही हैं।

मैं पहाड़ से उतरने वाली बर्फ़ का नज़ारा करता हूँ। साथी बताता है कि इसके नीचे नाला बह रहा होगा और महीने भर तक जब बर्फ़ ढल जायगी, यहाँ पहाड़ की गहराई में केवल दूधिया लकीर-सा नाला कल-कल बहता रह जायगा। मुझे दरिया पर आगे को लटकी बर्फ़ बड़ी भली लगती है। नीचे दरिया बह रहा है, पर वह अभी तक गिरी नहीं, बेसहारा लटकी है।

लारी बस बर्फ़ को पारकर जब दूसरी ओर चली जाती है तो हम सब चढ़ जाते हैं। कुछ ही दूर आगे बायीं ओर पहाड़ की चोटी पर पगड़ी की जाली-सी पतली बर्फ़ फैली है। "शायद कुछ दिन बाद केवल काली-काली चोटियाँ रह जायेंगी।" मैं कहता हूँ। लेकिन साथी बताता है कि पहाड़ की सिलवटों में बर्फ़ जमी हुई है और चमकती है ये आठ महीनों ऐसे ही चमकते रहते हैं।

सोनामर्ग के ग्लेशियर को

सोनामर्ग में बस के अड्डे पर घोड़े खड़े हैं। हम उनमें से दो घोड़े किराये पर कर लेते हैं और घोड़ेवालों से वचन ले लेते हैं कि वे हमें ग्लेशियर तक ले जायेंगे और दूर [illegible] नहीं छोड़ जायेंगे। मेरा साथी अंग्रेज़ी में बताता है कि पहले से तय न करने से ये लोग कभी ग्लेशियर तक नहीं ले जाते। मील-डेढ़ मील दूर ही से उनको [illegible] हैं।

घोड़े [illegible] का नज़ारा करता हूँ। [illegible] मैं [illegible]

और नकुचिया ताल की झीलों में जो अंतर है, वही गुलमर्ग और सोनामर्ग में है। गुलमर्ग खुला और विशाल है। पहाड़ उसके भी चारों ओर दिखायी देते हैं, पर दूर-दूर। सोनामर्ग तो चारों ओर पहाड़ों से घिरा तंग और नुकीला है। सिन्ध घाटी और ताजपास की घाटी यहाँ मिलती हैं, इसी कारण इसे किंचित फैलाव मिल गया है।

बस जहाँ आकर रुकती है, वहाँ सड़क के दोनों ओर ढालुवीं मखमली घास बिछी है। यह ढाल पहले सीधे बायीं ओर के पहाड़ के नीचे बहते सिन्ध तक चली गयी होगी, पर अब बीच से सड़क काट दी गयी है। बायीं ओर के पहाड़ों की ढलानें धानी रंग के घास का परिधान पहने हैं और चोटियों पर देवदार और सरूका और भरथ के घने पेड़ आकाश को भेदते-से खड़े हैं। नीचे पहाड़ को काटता-सा सिन्ध बहता है। सड़क के दायीं ओर किंचित् पास-सी मैदान है, जिसमें सेना की चौकी और रेस्टहाउस बना है। रेस्ट-हाउस का नाम [illegible] प्रकट करता हूँ, पर अभी [illegible] आये हैं। रेस्टहाउस अभी बन्द है।

किसी ज़माने में एकान्तप्रिय अँग्रेज गुलमर्ग की अपेक्षा सोनामर्ग के एकान्त को अधिक पसन्द करते थे। पर तब गुलमर्ग में खूब रौनक होती थी; पोलो और गोल्फ़ के खेल होते थे; घोड़े सरवयूकर रौब के साथ बसों सड़क पर दौड़ते थे, लेकिन अब तो दोनों ने ही [illegible] है। हाँ, इतिहास ने इस मर्ग को वैसा नहीं रौंदा। [illegible] लेकिन गुल-मर्ग का मौन चन्द दिन का है, दो-चार [illegible] हो उठेगा। सोनामर्ग का जाने कब टूटे।

सभी साथी चलने की सलाह देना है। बस के शेष साथी आगे बढ़ [illegible]

[illegible]

पर सड़क के और पगडण्डी के बीच दायीं ओर को पहाड़ आ जाता है, जिसके नीचे स्वच्छ बर्फ़ीले जल का नाला बहता है, जो सोनामर्ग में सिन्ध से जा मिलता है।

नाले का नाम ताजपास है। यह घाटी ताजपास की घाटी कहलाती है। चूँकि ताजपास सोनामर्ग ग्लेशियर से निकलता है, इसलिए इस घाटी को ग्लेशियर की घाटी भी कहते हैं।

हम जिस पगडण्डी पर जा रहे हैं, वह हरे-भरे घास के मैदान से होकर जा रही है। यह मैदान धीरे-धीरे उठता, छोटी-सी पहाड़ी के पार फिर गिरता, फिर इसी तरह उठता-गिरता चला जाता है।

वास्तव में बायीं ओर की पहाड़ियाँ जैसे पेट के बल लेटी हैं और हम जैसे उनके उल्टे तलवों पर बढ़े जा रहे हैं। उनकी पिण्डलियों के मध्य घास के मैदान और नाले हैं और पैरों में ताजपास बह रहा है और ताजपास के ऊपर गगनचुम्बी पहाड़ खड़ा जैसे उन लेटी पहाड़ियों को निहार रहा है। जाने कब से उसने इन्हें बाँध रखा है? जाने कब ये मुक्त होकर उठेंगी. . . .

"सम्हल के, सम्हल के. . . ." साथी चिल्ला उठता है।

हम पहला मैदान पार कर, जैसे पहाड़ी की पिण्डली में गुजर कर नीचे बहता नाला पार कर रहे हैं।

पगडण्डी फिर घास के मैदान से हो लेती है। सचमुच यह घाटी बड़ी मनोरम है। यह मैदान पहले मैदान से ऊँचाई पर है। हम धीरे-धीरे अनजाने उठते जा रहे हैं। बायीं ओर देवदार, तरकाशा और भरथ के पेड़ हैं, जिनके पीछे [illegible] भेड़ों की मैं-मैं और किसी अस्थायी डेरे की [illegible] देती है।

दायीं ओर ताजपास [illegible] पहाड़ पर घने देवदार खड़े हैं। बीच-[illegible] में कोई [illegible] [illegible] है।

"यह काहे का पेड़ है?" अचानक मैं पूछता हूँ।

"इसे इधर भोजी कहते हैं। यह भोजपत्र का पेड़ है।"

भोजपत्र की महिमा तो कालिदास के काव्यों में खूब है। क्या यही है वह पेड़? मुझे बड़ी निराशा होती है।

"क्या इसके पत्ते नहीं होते? इसकी छाल किसने खींच ली है?"

साथी बताता है कि इस साल बर्फ़ देर से पड़ी है और ये पेड़ बर्फ़ानी तूफ़ानों के मारे हुए हैं और अभी दो महीने बाद पत्तियों और डालियों से लहलहा उठेंगे।

"अब तो श्रीनगर में शिगल की ढालुवीं छतें पड़ती हैं," वह बताता है, पर पहले तो भोजपत्र बिछाकर उन पर मिट्टी डाल दी जाती थी और बहार में छतों पर सोसन और लाले लहलहा उठते थे। अभी तक श्रीनगर के कुछ पुराने मकानों की छतें भोजपत्र से छायी हुई हैं। इसके तने से छाल कागज़ की मोटी तह-सी उतरती चली जाती है। पहले उसी से कागज का काम लिया जाता था, वस्त्र बनाये जाते थे और छतें छायी जाती थीं।"

मैं चकित-सा उन पेड़ों को देखता हूँ। जब-जब भोजपत्र का सफ़ेद पेड़ सामने पड़ता है, निगाहें उधर उठ जाती हैं।

एक पहाड़ी और उसके नीचे बहते नाले को पार कर हम दूसरे मैदान में पहुँचते हैं। अभी हम आधा मैदान भी नहीं पार कर पाते कि बायीं ओर, पेड़ों में छिपे गूजरों के डेरे से गाने की आवाज़ आती है। शब्द साफ़ समझ में आ रहे हैं। कश्मीरी नहीं [illegible] बताता है कि ये गूजर [illegible] बोलते हैं और [illegible] हज़ारा से आकर यहाँ बस गये हैं। [illegible] मैदान बर्फ़ से ढक जाते हैं तो ये नीचे [illegible] जाते हैं। [illegible] घोड़ा रोक लेता हूँ।

दरसी दा वन विच्च वगदा नी पानी
जीवें मुन्शी जीन्हें बारहमूले आनी
दरसी दा बन विच्च फुल्लिया गुलाब
दुट्टियाँ मुहब्बतां ते मिलिया जुवाब
दरसी दा बन विच्च के फुल फुल्लिया
याद आया मुन्शी ते सब कुछ भुल्लिया

लम्बी ऊँची गोंज-भरी तान में गूजर का गाना वन और घाटी को गुंजा रहा है, गूजर के अकेलेपन को भरता रहा है, मैं चाहता हूँ कि उनके अड्डे पर जाऊँ, वहाँ बेकरार गाने वाले से बातें करूं, उसकी ज़िन्दगी के बारे में कुछ जानूं, पर साथी कहता है कि देर हो जायगी। दल के दूसरे साथी बहुत आगे निकल गये हैं। मैं उस गीत से अपने को तोड़कर घोड़े को एड़ लगाता हूँ।

जल्दी ही हम एक तीसरे मैदान में पहुँचते हैं। यहाँ से दूर बर्फ़ानी चोटियां दिखायी देती हैं और हम बिना रुके बढ़े जाते हैं। ज्यों-ज्यों हम ग्लेशियर की ओर बढ़ते जाते हैं, हवा की तेज़ी और ठण्डक बढ़ती जाती है। तीसरे मैदान से ग्लेशियर बिल्कुल सामने—अपनी पूरी आब-ताब लिये दिखायी देता है। [illegible], नुकीले शिखरों के बीच ऊँचे बर्फ़ का दरिया नीचे [illegible]। नीचे का भाग इतनी दूर से दिखायी नहीं देता, पर दायीं ओर का पहाड़ बर्फ़ से ढका है। और चोटियाँ छोटे-छोटे दूधिया शिखर जैसे सोनामर्ग के शिखरों से होड़ ले रही हैं।

आगे [illegible] पगडण्डी और पत्थर हैं। नीचे नाला-पास बहता [illegible] पथरीले मार्ग पर हम चले जाते हैं। ज्यों-ज्यों हम ग्लेशियर की ओर बढ़ते जाते हैं, घाटी चौड़ी होती जाती

है। सामने पहाड़ पर हरियाली ख़त्म होती जाती है, यहाँ तक कि भोजपत्र के पेड़ भी पीछे रह जाते हैं।

अचानक आगे जाने वाले रुक जाते हैं। दायीं ओर नाले पर बड़ा ही सुन्दर बर्फ़ का पुल है, जिसके नीचे से नाला शोर मचाता बह रहा है। कुछ और आगे बढ़ने पर नाला एक ओर से पुल के नीचे जाता और दूसरी ओर से बाहर निकलता दिखायी देता है। वास्तव में बर्फ़ सामने के पहाड़ की खोह में भरी है। वहाँ निश्चय ही ऊपर से नाला बहता होगा और अब भी शायद बर्फ़ के नीचे पानी की लकीर होगी, जो अन्दर-ही-अन्दर आकर पुल के नीचे ताजपास से मिल जाती होगी। पुल का पाट काफ़ी चौड़ा है।

"इसे पिघलने में अभी एक महीना लग जायगा।" साथी बताता है। हम नीचे उतरकर बर्फ़ पर चढ़ दौड़ते हैं। फिसलते हैं। गिरते हैं। हाथ बर्फ़ को छूते ही सुन्न हो जाते हैं। फिर उठकर घोड़वानों के परामर्श के [illegible] हुए आगे बढ़ते हैं। पुल के मध्य एक बड़ा गोल [illegible] रही है। मैं आगे बढ़कर उस सूराख़ से नीचे बहता हुआ जल देखना चाहता हूँ। लेकिन साथी मुझे रोक देता है: "ऐसा न हो कि बर्फ़ तुम्हें साथ लिये हुए गिर जाय और तुम अन्दर-ही-अन्दर ख़त्म हो जाओ।" [illegible] है कि संकट की [illegible] थामकर देखता हुआ [illegible] जा पहुँचता हूँ। [illegible] हुआ-सा बह रहा है। [illegible] सोच रहा है, कि [illegible] अजगर के सम्बन्ध में [illegible] अपने आप उसकी साँस से [illegible] अजगर के

मुँह से कम नहीं है। मेरी साँस फूल रही है। साथी मुझे ऊपर चोटियों पर जमी बर्फ़ दिखाता है। लेकिन मेरी आँखों के सामने उस कालगर्त में उफनता जल अभी तक घूम रहा है। एक सिक्ख दम्पति बड़ी अदा से बर्फ़ के उस पुल पर गर्त से परे खड़े हो जाते हैं, और उनका मित्र उधर नाले में जाकर उनका फ़ोटो खींचता है।

हम वापस मुड़ते हैं। घोड़वान कहते हैं कि वह सामने सोनामर्ग है, आप यहीं खाना खा लीजिए, नहीं समय से वापस नहीं पहुँच सकेंगे।

लेकिन हम देखते हैं कि एक टोली दो-तीन फर्लांग आगे जाकर नाले के मोड़ पर कुछ खुली जगह उतरी है और घोड़े नाले को पार कर दूसरे किनारे जा रहे हैं। निश्चय ही वहाँ से ग्लेशियर का दृश्य और भी अच्छा दिखायी देता होगा, क्योंकि बायीं ओर जिस पहाड़ पर हम चले आ रहे थे उसका अवरोध वहाँ से मिट जाता होगा और ग्लेशियर अपनी पूरी भव्यता में दिखायी देता होगा। साथी घोड़वानों को डाँटता है कि ग्लेशियर तक चलने का वादा करके लाये थे तो दो मील इधर ही से क्यों वापस लिये जा रहे हो।

हम फिर चल पड़ते हैं। उस स्थल पर पहुँचकर घोड़े नीचे को उतर पड़ते हैं। ताजपास का पाट ग्लेशियर का नैकट्य होने से अथवा जगह खुली होने से चौड़ा हो गया है। घोड़े क्षण भर को पानी में पैर रखने से डरते हैं, पर घोड़वानों की टिटकारी और पुट्ठे पर पेड़ की डाल के स्पर्श से उतर पड़ते हैं। दो-तीन धाराओं को पार कर हम ताजपास के पार सामने के पहाड़ की छाया में पत्थरों पर जा पहुँचते हैं। कुछ ही परे मैली-सी बर्फ़ किनारे की कँकरीली रेत पर बेजान-सी पड़ी इस बात की गवाही देती है कि महीना-पन्द्रह दिन पहले बर्फ़ यहाँ भी थी, पर जगह खुली होने से पिघल गयी है।

[illegible] है। ग्लेशियर दोनों

चोटियों से नदी-सा बहता ऐन नीचे तक आ गया है। और ताजपास कुछ ही दूरी पर बर्फ़ की उस अपूर्व ढलान के नीचे से बहता साफ़ दिखायी देता है। ग्लेशियर का पाट बड़ा चौड़ा है। ऊपर की दोनों नुकीली, हिम-ढकी चोटियाँ हमारे दायीं ओर को हैं और हिम का वह नद जैसे बल खाता हुआ नीचे तक फिसलता आ गया है।

लेकिन जिस जगह हम खड़े हैं वहाँ नाले का मोड़ है। सामने की जिस पहाड़ी ढलान पर हम चले आ रहे थे, उसका एक भाग आगे को बढ़ा, ग्लेशियर का पूरा दृश्य अब भी रोक रहा है। मन होता है कि दो-तीन फ़र्लांग आगे बढ़कर देखें कि बर्फ़ की उस ढलान के बायीं ओर को क्या है।

साथी परामर्श देता है कि पहले खाना खा लिया जाय, फिर चलेंगे।

जल्दी-जल्दी डिब्बे खोलकर हम सैण्डविच और उबले हुए अण्डे खाते हैं। भूख खूब लग आयी है। जो खाना साधारणतः हम चार आदमियों के लिए पर्याप्त होता, वह हम दोनों खा जाते हैं, फिर भी भूख शेष रह जाती है। घोड़वान टिफ़िन-कैरियर के एक डिब्बे को माँज-धोकर ताजपास का पानी भर लाता है। एकदम बर्फ़! दाँत दुखने लगते हैं, लेकिन हम घूँट-घूँट पी जाते हैं।

जब हम आगे चलने का प्रस्ताव करते हैं तो घोड़वान इनकार कर देते हैं :

"आगे घोड़ा नहीं जाता साब।"

"पत्थर है, कोई रास्ता नहीं।"

"हम पैदल चलेंगे।" मैं कहता हूँ, "सिर्फ़ दो-एक फ़र्लांग आगे जायेंगे। जहाँ से पूरा व्यू नजर आये, वहीं से मुड़ आयेंगे।"

घोड़वान बड़बड़ाते हैं। पर [illegible] तैयार हो जाते हैं। हम चल पड़ते हैं। रास्ता [illegible] में नहीं है। ठीक रास्ता, जैसा कि मैंने दूसरे [illegible] के किनारे-किनारे है। लेकिन उस बर्फ़ की

बर्फ़ ग्लेशियर से आध मील आगे तक घाटी में जमी थी। सो हम बायीं ओर की पहाड़ी के पत्थरों-चट्टानों में रास्ता बनाते, भेड़-बकरियों के पैरों से बनी पगडण्डियों पर ऊपर-नीचे चलते हैं। ख़याल था, एक पहाड़ी ख़त्म होने पर ग्लेशियर का पूरा व्यू दिखायी देगा, लेकिन आगे दूसरी पहाड़ी है। हम और बढ़ते हैं, लगभग दो फ़र्लांग चले होंगे कि सहसा पहाड़ का वह भाग जिस पर हम चले आते हैं, ख़त्म हो जाता है। सामने ग्लेशियर का पूरा दृश्य दिखायी देता है। हम ग्लेशियर के एकदम पास पहुँच गये हैं। हमारे सामने जैसे फ़र्लांग भर के अंतर तक बर्फ़ आ गयी है और ताजपास उसके नीचे से छहरता हुआ बह रहा है।

ऊपर को दृष्टि उठाता हूँ तो देखता हूँ कि उन दो चोटियों के साथ बायीं ओर को एक और नुकीली चोटी है और दूसरी तथा तीसरी के मध्य भी बर्फ़ की एक नदी, चाहे पहली से छोटी, बह रही है।

और वहीं एक जगह पानी झर रहा है। वही शायद ताजपास का उद्गम है। पानी की वह धार इतनी ऊँचाई और इतनी दूर से नल की धार जैसी लगती दिखायी देती है। छोटे से प्रपात में गिरती हुई, वह बड़ी मनोरम लगती है। वह धार उस चोटी के सीने से उतरकर जैसे पन्द्रह-बीस फ़ुट नीचे उस बर्फ़ के दरिया में कहीं गुम हो जाती है। वहीं से शायद बर्फ़ के नीचे-नीचे वह ग्लेशियर के पैरों में आ जाती है।

७५ का कोण बनाती हुई ये तीन चोटियाँ और उनमें से दो बर्फ़ के नद और इस ओर से उस ओर तक लगभग डेढ़ मील की चौड़ाई में फैला हुआ बर्फ़ का वह दरिया और इधर सामने के पहाड़ के ऊपर अनगिनती हिम-मण्डित कँगूरे। आँख भरकर मैं उस दृश्य को देखता हूँ। हवा इतनी तेज [illegible] कर उड़ती है। [illegible]
[illegible]
[illegible]

आँख भरकर एक बार इस अनुपम सौन्दर्य को देख लेता हूँ, मन पर अंकित कर लेता हूँ।

*

कश्मीर के अपने उस प्रवास में मैं गुलमर्ग भी गया और पहलगाम भी। मैंने अमरनाथ की भी यात्रा की और कोलोहाई की सैर का भी लुत्फ़ उठाया, लेकिन सोनामर्ग की वह भव्य झाँकी मेरे मन में बसी रही। उसे फिर एक बार देखने के लिए मैंने दूसरे साल फिर कश्मीर की यात्रा की, लेकिन उस वर्ष बर्फ़ कम पड़ी थी, फिर अगस्त का महीना आ गया था। न सड़क पर, न ताजपास पर और न ग्लेशियर पर—कहीं भी बर्फ़ दिखायी न दी। ग्लेशियर की शाश्वत बर्फ़ थी, पर वह दूर से पहाड़ की-सी काली-भूरी दिखायी देती थी। नयी बर्फ़ चोटियों के नीचे थोड़ी-सी जमी थी। १९५४ का ग्लेशियर मन पर कुछ ऐसे अंकित है कि फिर वह दृश्य देखने को मिले, इसकी हविस बनी हुई है।

लेकिन कश्मीर के भूतपूर्व रेज़ीडेंण्ट फ्रांसिस यंगहसबंड ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कश्मीर में एक झाँकी फिर दोबारा दिखायी नहीं देती। [illegible] और [illegible] प्रकृति [illegible] कश्मीर के सौन्दर्य [illegible] के लिए [illegible] बार-बार, [illegible] जाना चाहिए। अगस्त में [illegible] सोनामर्ग का [illegible] को मन्द कर देता है तो [illegible] में अस्तित्व पाती है। बहार [illegible] फूलों [illegible] आती है तो [illegible] में पेड़ों के पत्ते लाल हो [illegible] हैं—कश्मीर के बहिश्त को एक [illegible] में नहीं देखा जा सकता। [illegible] जरूरी है। [illegible] कश्मीर [illegible] अन्तिम

इच्छा पूछी तो उसके ओठों से निकला....'सिर्फ़ कश्मीर' फ़ारसी कवि ने लिखा है—

अज़ शाहे जहाँगीर बवे नज़अ चूं जुस्तन्द
बा ख्वाहिशे दिल गुफ़्त कि कश्मीर दिगर हेच

मरने के बाद जन्नत किसने देखी है, पर जीते जी जिसने कश्मीर की जन्नत देखी है वह बार-बार वहाँ क्यों न जाना चाहेगा।

क्यों
कैसे
किसके लिए

मैं क्यों लिखता हूँ ?

मैं क्यों लिखता हूँ. . . .इस प्रश्न का उत्तर इतना सीधा नहीं है कि मैं एक-दो वाक्यों में देकर उससे छुट्टी पा जाऊँ। जब मैं इस सवाल के जवाब में सोचता हूँ तो पाता हूँ कि आज मैं जिस कारण लिखता हूँ उसी कारण पहले न लिखता था।

लिखने से पहले, जहाँ तक मुझे याद है, मुझे पढ़ने का शौक हुआ। पढ़ने का शौक मुझे अपने पिता और बड़े भाई के कारण हुआ। एक बार, मुझे अच्छी तरह याद है, माँ ने अन्दर के दलान की सफ़ाई की तो एक बड़े पुराने सन्दूक में से (जिसकी लकड़ी पर अन्दर-बाहर चमचमाता टीन मढ़ा था और [illegible] फूल-पत्ते बने थे) बहुत से किस्से निकले—मिलखी-राम के, मालीराम के, टी० सी० गुजराती और [illegible] के प्रसिद्ध किस्से लिखने वालों के, जिनके नाम भी अब मुझे याद नहीं। [illegible] की किताब जिसकी जिल्द पर लिखा था—अलिफ़ लैला।

पढ़ने का [illegible] हुआ कि ये [illegible] किताबें पिता जी की हैं, जो उन्होंने [illegible] पहले खरीदी थीं। [illegible] उर्दू पढ़ [illegible] और भाई साहब [illegible] की दुकान से दो पैसे रोज [illegible] किराये पर किताबें

लाने लगे और बड़ी ही छोटी उमर में मैंने देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास पढ़े, जासूस ब्लैक, शर्लाक होम्ज़ और 'आरसीन लोपन' के कारनामे पढ़े, और भी न जाने कितनी किताबें पढ़ डालीं। उन सब को पढ़ते-पढ़ते मुझे लिखने का भी शौक हो गया। मोतीराम, मिलखीराम और टी० सी० गुजराती के बैंतों को पढ़कर मैंने पञ्जाबी में बैंत लिखना शुरू किया, फिर 'आर्य भजन पुष्पाञ्जलि' की नकल में भजन लिखने लगा। फिर आठवीं जमात में अपने एक मित्र टेकानन्द 'अख़्तर' के कारण उर्दू में ग़ज़ल कहने लगा और उसी से ईर्ष्या के कारण (जिसका उल्लेख मैंने अपने लेख 'मेरे प्रथम प्रयास' में विस्तार से किया है) गद्य लिखने लगा।

लेकिन यदि पढ़ने से ही लिखने का शौक हो जाय तो शायद हज़ारों आदमी लेखक बन जायँ। जब स्वयं मेरे भाई इतना पढ़ चुकने के बाद कभी चार लाइन ठीक से नहीं लिख सके, तो मैं ही क्यों कविता-कहानी लिखने लगा? जब इसके बारे में सोचता हूँ तो एक ही कारण समझ में आता है। लड़कपन ही से मैं बहुत कमज़ोर और बीमार था। इच्छा होने पर पर भी हमजोलियों के खेलों में जी-जान से भाग लेना मेरे बस में न था। मन शायद बड़ा भावप्रवण था। ज़रा-सी बात मन में लग जाती थी। घर में घुटन भी कम न थी। पिता जी के आतंक की छाया, जिन दिनों वे घर में रहते, निरन्तर सारे घर पर मँडराया करती थी। ऐसी स्थिति में मन शायद सब ओर से हटकर सृजन में सुख पाना चाहता था—हमारे मुहल्ले में जो झीवर पानी भरता था, उसका लड़का मिट्टी के बड़े सुन्दर खिलौने बनाता था। मैं घण्टों उसके साथ बैठ खिलौने बनाना सीखता। गली में एक [illegible] मैं उसकी मदद से [illegible] बनाता था। बाज़ार [illegible] करता था। [illegible] छोटे मोतियों को तार में पिरोकर फूल-पत्तियाँ

बनाता था। और भी न जाने कितने इस तरह के काम करता था। लेकिन चूंकि ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया, मुझे पढ़ने और फिर स्वयं लिखने में अधिक सुख मिलता गया, इसलिए मैं पढ़ने-लिखने लगा। आठवीं कक्षा ही में जन्माष्टमी पर पञ्जाबी में होने वाले एक कवि-सम्मेलन में मुझे पञ्जाबी कविता पढ़ने पर एक चाँदी का पदक मिला था। मेरी पहली ग़ज़ल पर ही उर्दू के एक मुशायरे में मुझे बड़ी दाद मिली और आठवीं या नवीं में मेरी पहली कहानी उर्दू दैनिक-पत्र के साप्ताहिक संस्करण में छप गयी। प्रकट है कि इस सब से मेरा प्रोत्साहन हुआ और मैं लिखता चला गया। दैनिक पत्रों से मैं साप्ताहिकों और साप्ताहिकों से मासिक पत्रों में पहुंचा। फिर जिस तरह पञ्जाबी से उर्दू में गया था, उसी तरह उर्दू से हिन्दी में लिखने लगा और क्योंकि मैं कुछ वर्ष बिना कहीं नौकरी किये स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सृजन करता रहा और क्योंकि महीनों कहानियाँ लिखते रहना कठिन है, इसलिए मैं उपन्यास और नाटक भी लिखने लगा।

किन्तु क्या मेरा जीवन सदा घुटा-घुटा या अभावग्रस्त रहा कि मुझे सदा लिखने में ही त्राण मिला? या मेरी महत्वाकांक्षा की प्यास अमिट रही कि लेखनी मेरे हाथ से नहीं छूटी? इन प्रश्नों का उत्तर सोचता हूँ तो पाता हूँ कि शायद यह बात नहीं। मैं ऐसे मित्रों को जानता हूँ जिनकी महत्वाकांक्षा उनसे दिन-रात लिखाती रही, पर नाम पा जाने पर अनायास वे मौन हो गये, जैसे उनकी तलाश खत्म हो गयी और उन्हें लिखने की प्रेरणा न रही। पहाड़ों की घाटियों में घनीभूत होकर उठती हुई धुन्ध जैसे आकाश में पहुँचकर अनायास मिट जाती है, उसी प्रकार उनकी प्रतिभा अपनी ख्याति के शिखर पर पहुँचकर बिखर गयी। ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न मित्रों को भी मैं जानता हूँ जो अपने आरम्भ में बहुत अच्छा लिखते थे, लेकिन नाम पाकर, या अच्छी नौकरी पाकर उनकी प्रेरणा का स्रोत सूख गया।

मुझे महत्वाकांक्षा न हो अथवा सुख-सुविधा का बाहुल्य मेरे यहां रहा हो, ऐसी बात नहीं। मेरा जीवन काफ़ी अभावग्रस्त रहा और मेरी लिखने की प्रेरणा में अभावों से ऊपर उठकर नाम पाने की आकांक्षा का भी हाथ रहा, किन्तु मैं जब गत तीस-बत्तीस वर्षों पर दृष्टि डालता हूं तो पाता हूं कि इन दोनों कारणों के अतिरिक्त भी कुछ कारण रहा कि मेरे लिखने की गति कभी मन्द नहीं हुई।

जैसे मुझे बचपन में एक साथ कई तरह के शौक थे, उसी तरह जब मैंने कॉलिज से डिग्री ली तो मैं एक साथ सितार और दिलरुबा बजाने, चित्र खींचने, लड़कों को पढ़ाने, जोरदार भाषण देने, सफल पत्रकार, वकील, रेडियो और सिनेमा एक्टर अथवा डायरेक्टर बनने के सपने पालता रहा। गत चौथाई सदी में एक-एक करके किसी-न-किसी हद तक मैंने ये सारे-के-सारे शौक पूरे किये हैं। नाम तो ये सभी देते हैं और धन भी लेखन-कार्य से ज़्यादा उनमें मिल सकता है, पर मैं जानता हूं, मुझे किसी में उतना सन्तोष नहीं मिला, जितना लिखने में। कई बार ऐसा हुआ कि मैंने लिखना छोड़कर गम्भीरता से कुछ और करने का प्रयत्न किया। एक बार तीन वर्ष तक नौकरी करके मैं लॉ कॉलिज में दाखिल हो गया और बड़ा परिश्रम करके बड़े ही अच्छे नम्बरों पर पास हुआ। इरादा बड़ा प्रसिद्ध वकील अथवा जज बनने का था, पर मवक्किलों को ढूंढने के बदले कचहरी में बैठकर भी [illegible]। [illegible] वकीलों को अपने पेशे के कारण विवश हो [illegible] और मैंने [illegible]। एक बार [illegible] फ़िल्म को स्वीकार कर लिया। मेरे दोनों [illegible]। कई बार [illegible], मैं [illegible] अभिनय [illegible] अभिनेताओं के [illegible] और [illegible] में [illegible] लिखना [illegible] देखा

कि कम मेहनत से कमाये जा सकने वाले धन का लालच मुझे सभी लेगा या दोहरी मेहनत मेरी सेहत तबाह कर देगी (सेहत तो तबाह हो गयी थी) तो मैंने फ़िल्म की नौकरी से छुट्टी पा ली।

रहा अभाव, तो यह अभाव सदा मेरे साथ रहा हो, ऐसी बात नहीं। बीच में ऐसा भी समय आया जब मैं बारह-पन्द्रह सौ रुपया महीना पैदा करता रहा, पर मेरा लिखना नहीं छूटा। कई तरह की नौकरियाँ करके मैंने यह जान लिया है कि मुझे तभी सुख मिलता है जब मैं अच्छा लिखता हूँ। और कोई चीज मुझे सुख नहीं पहुँचा सकती। पिछले दिनों मैंने रोनल्ड कोलमैन का एक फ़िल्म देखा था 'डबल लाइफ़'। उसमें शेक्सपियर के महान् दुखान्त नाटक 'ऑथेलो' की भूमिका में काम करता हुआ हीरो कहता है कि वह उसी समय अपने आप को शक्ति-सम्पन्न पाता है जब वह मंच पर ऐक्ट कर रहा होता है। मंच के बाहर उसकी निरीहता, बेबसी और उदासी दयनीय हो जाती है। मैंने जबसे वह फ़िल्म देखा है मुझे बार-बार उसके ये शब्द याद आते हैं। कारण यह कि मेरी स्थिति भी कुछ वैसी ही है। जब लिखता हूँ तो बड़ा सन्तोष और सुख मिलता है और जब नहीं लिखता तो बड़ी झुँझलाहट होती है, मन चिड़चिड़ा और उदास हो जाता है, बीवी-बच्चे, सुख और आराम कुछ अच्छा नहीं लगता। तो लगता है, आरम्भ में अपनी बीमारी, कमजोरी और अन्तर्मुखता के बावजूद [illegible] की आकांक्षा अथवा अभाव को पाट देने की इच्छा सृजन की प्रेरणा देती थी, पर लगता है, धीरे-धीरे सृजन में जो सुख मिलने लगा, वही अपना ध्येय अपने आप बन गया।

इधर अपनी इस अनजानी नियति में मेरे संतोष [illegible] को भी [illegible] की जरूरत है। मैं क्यों लिखता हूँ? यह प्रश्न मेरे मन में स्वयं कई बार उठा [illegible] आज तक [illegible] मृत्यु के [illegible] का मोह छोड़कर निरन्तर लिखा। [illegible] सोचता हूँ? [illegible] जाता है और

और तभी लगता है कि यदि लिखने की प्रक्रिया की बारीकियों में जायें तो इस सीधे-सादे प्रश्न का उत्तर सीधा नहीं रहता।

*

सुना है कि स्व० प्रेमचन्द्र बिस्तर या फ़र्श पर पेट के बल लेटकर तकिये के सहारे लिखा करते थे और जब कभी लिखने में तल्लीन हो जाते थे तो घुटनों के बल पाँव ऊपर उठा लेते थे और निमग्नता की न्यूनता अथवा आधिक्य के अनुसार टाँगें हिलाते रहते थे। मैं फ़र्श पर बैठकर या लेटकर कभी कोई चीज़ नहीं लिख पाता। मेज़-कुर्सी मेरे लिए सदा कलम-दवात की तरह लिखने के आवश्यक उपादानों में से रही है।

निम्न-मध्यवर्ग में जन्म लेकर मुझे यह साहबी आदत कैसे पड़ गयी, जब इसका कारण खोजता हूँ तो बचपन की एक घटना अपनी सारी दिलचस्पी के साथ मेरे सामने आ जाती है, जिसका उल्लेख नाटकों के सम्बन्ध में लिखते हुए मैंने किया भी है।

मैं पाँचवीं या छठी में पढ़ता था, जब हमारा पुराना मकान बनना शुरू हुआ। आने वाली बरसात में उसके गिर जाने का भय था, शायद इसीलिए। यद्यपि आरम्भिक योजना केवल इतनी थी कि एक चौबारा और रसोईघर गिराकर नया बनवा लिया जाय, किन्तु हमारे पिता जी [illegible] पैमाने पर करने में विश्वास रखते थे। उन्होंने सारे-का-[illegible] मकान गिरवा डाला और नये सिरे से दो-मंजिला बनवाने का निश्चय किया और जहाँ माता जी ने पाँच-छः-हज़ार का अन्दाज़ा लगाया [illegible] पिता जी ने १,००० रुपये खर्च कर डाले और बाद में बरसों कर्ज़ [illegible]।

उन्हीं दिनों जब मकान बन रहा था, [illegible] रुपये लेकर वे सीमेण्ट लेने बाज़ार गये। [illegible]

के बोरों के बदले कुली उनके पीछे-पीछे दो मेजें, चार कुर्सियाँ और एक बेंच उठाये चले आ रहे हैं। मेजें सुन्दर थीं, पर उनका कपड़ा उड़ गया था, कुर्सियों में से एक बेंत-विहीन थी और दूसरी का बेंत इतना नीचा था कि सीट में गड्ढा बन गया था। पूछने पर पता चला कि मार्ग में एक स्थान पर नीलामी हो रही थी और वे सीमेण्ट के बोरों के बदले वह कचरा खरीद लाये हैं।

मैंने देखा, सामान बाहर रखवाकर वे बड़े गर्व से अपनी इस कार्य-पटुता की दाद चाह रहे थे और मरम्मत और पालिश के बाद वह सामान बैठक में कैसे सजाया जायगा, इसका सविस्तार ब्यौरा दे रहे थे और अन्दर आँगन में माँ भुनभुना रही थीं कि पचास रुपये तो ये कबाड़खाने में खर्च कर आये, सीमेण्ट के लिए रुपया कहाँ से आयेगा।

सामान की मरम्मत फिर नहीं हुई (जब मकान ही किञ्चित् अधूरा रह गया तो सामान ही की नौबत कैसे आती ?) लेकिन उन मेजों में से एक मेरे अधिकार में आ गयी और दूसरी कुर्सी की सीट पर तख्ता रखकर मैं वर्षों उस पर पढ़ता-लिखता रहा और मेज पर काम करने का कुछ ऐसा अभ्यस्त हो गया कि जब बी० ए० पास करके लाहौर गया और [illegible] रुपया मासिक पर दैनिक 'वन्दे मातरम्' के सम्पादन-विभाग का [illegible] कहलाने लगा और चंगड़ मुहल्ले की दो अंधेरी सीलन-भरी कोठरियाँ मुझे [illegible] पर सबसे पहला काम जो मैंने किया, वह यह था कि अनारकली के एक कबाड़ी की दुकान से [illegible] मेज-कुर्सी खरीद लाया और बाहर की कोठरी में उन्हें सजा दिया।

कभी ऐसे भी दिन आये हैं कि एक जगह से उखड़कर दूसरी जगह गया हूँ और तत्काल मेज-कुर्सी नहीं [illegible], तब [illegible] [illegible] में लिखता रहा हूँ। लेकिन [illegible] [illegible] और [illegible] कुर्सी की व्यवस्था [illegible] हूँ।

अभी उस दिन एक कवि-पत्रकार मित्र से बातें करते हुए मालूम हुआ कि वे सुबह दस बजे मेज पर बैठते हैं, दिन को बिलकुल नहीं सोते और दफ्तर की बाकायदगी से काम करते हैं। वैसी नियमितता मेज-कुर्सी पर काम करने के बावजूद मुझ में कभी नहीं आ पायी। मेरे वे मित्र भूतपूर्व आई० सी० एस० हैं। उनके जीवन का अधिकांश समय पाबन्दी के साथ मेज-कुर्सी पर बैठकर काम करने में बीता है और इसलिए नौकरी से अवकाश पाने पर अब, जब वे काम करते हैं तो उसी नियमितता से किये जाते हैं। मेरा जीवन वैसा नियमित नहीं रहा। दो-ढाई वर्ष समाचार-पत्रों में रहा तो दिन को डेढ़ से छः और रात को साढ़े नौ से डेढ़-दो बजे तक काम करता रहा। फिर एक वर्ष केवल रात को ९ से २ बजे तक एक समाचार-पत्र में रात की ड्यूटी देता रहा, फिर कानून पास किया और दो वर्ष कहीं नौकरी ही नहीं की। फिर नौकरी की तो कभी समय की वैसी कैद नहीं रही—न अखबार में, न रेडियो में, न फिल्म में—इसलिए दफ्तरी नियमितता से मैंने काम नहीं किया। कुछ ही वर्षों को छोड़कर, कि जब मुझे समय की पाबन्दी निभानी पड़ी, मैं दिन को एक-दो घण्टे सोता भी [illegible] अवस्था में। बहुत सुबह उठना, सैर करना, कसरत [illegible] बड़ा-सा गिलास पीकर सो जाना; एक-डेढ़ बजे उठना, खाना खाना, फिर तीन बजे तक कुछ इधर-उधर का दफ्तरी या दूसरा काम करना और फिर चार-पाँच बजे जो मेज पर बैठना तो लगातार रात को नौ-दस बजे और कई बार ग्यारह-बारह बजे तक साहित्य-लेखन में रत रहना। शाम को यदि कभी सैर या खेल की सुविधा रही तो फिर रात को नौ बजे के बाद बारह-एक बजे तक काम करना....

[illegible] रहा है और शायद उसी का यह [illegible] न सैर और कसरत करता हूँ [illegible] पाता। बैठता भी हूँ तो दूसरे काम

चाहे करूँ, साहित्य-सृजन नहीं कर पाता। काम अधिक न हो तो अब भी दोपहर को सो जाता हूँ। यक्ष्मा के बाद तो सोना और भी अनिवार्य हो गया है। कहने का मतलब यह कि जहाँ तक साहित्य-लेखन का सम्बन्ध है, मेरा मन शाम के बाद ही एकाग्र हो पाता है। मैंने कई बार दिन में काम करने का प्रयास किया है। इच्छा-शक्ति से काम लेकर दिन-दिन मेज-कुर्सी से चिपका बैठा रहा हूँ, पर मैंने सदा पाया है कि यदि दिन भर में दो पृष्ठ मैंने लिखे तो साँझ को बैठने के बाद दो-तीन घण्टों में दो पृष्ठ हो गये।

कारण कुछ नहीं, आदत है। उन दिनों [illegible] था और सुबह सैर को जाता, दिन को सोता और तीन बजे [illegible] और डाक निबटाता था और फिर साहित्य-लेखन [illegible] काम करने की आदत पड़ गयी। प्रकृति मेरी चंचल है, इसलिए दिन को बैठना और भी मुश्किल है। कोई मुझे डिस्टर्ब न भी करे तो भी मैं उठकर दूसरों से बातें करने लगता हूँ। बातें नहीं करता तो अपना लिखना छोड़ दूसरे की पुस्तक पढ़ने लगता हूँ। मन मेरा एकाग्र नहीं हो पाता। जरा-सी अड़चन पड़ने, कोई विचार अथवा उपमा न सूझ पाने पर और कई बार [illegible] उठ जाता हूँ। लेकिन ज्योंही साँझ [illegible] होने लगता है। [illegible] कठिनाई नहीं होती।

लेकिन अजीब बात [illegible]

बैठता हूँ तो वहीं से प्रारम्भ कर देता हूँ, यहाँ तक कि अधूरा वाक्य बिना किसी उलझन के पूरा हो जाता है, न सूझने वाली उपमा आप से आप सूझ जाती है, उलझे विचार सुलझकर कलम की नोक पर आ जाते हैं। लगता है जैसे प्रकट दूसरी बातों में लगे रहने पर भी मन निरन्तर उसी के सम्बन्ध में सोचता रहता है।

*

मैं मूड का भी गुलाम नहीं हूँ। दोपहर से पहले लिखने में यह उलझन मूड के कारण नहीं, जैसा कि मैंने कहा, स्वभाव के कारण है। शाम को काम करने की आदत जरूर पड़ गयी है, लेकिन कभी जब जरूरत पड़ी है, सुबह या दोपहर को भी मन सदा एकाग्र हो गया है।

एक बार १९३८ में मैंने एक एकांकी 'अधिकार का रक्षक' लिखकर श्रीपतराय को 'हंस' के एकांकी अंक के लिए भेजा। श्रीपत ने पूरे उत्साह के साथ नाटक वापस भेज दिया कि 'क्या थर्ड रेट नाटकों के लिए 'हंस' ही रह गया।' मुझे बुरा तो लगा (नाटक थर्ड रेट नहीं था, मेरे सफलतम एकांकियों में आज वह समझा जाता है।) लेकिन बिना किसी तरह का प्रतिवाद किये, मैंने वह नाटक 'सरस्वती' को भेज दिया और एक ही दिन में 'लक्ष्मी का स्वागत' लिख डाला। मुझे अच्छी तरह याद है, मैं एक बार जो बैठा तो नाटक का पहला मसौदा तैयार करके ही उठा।

. . . . फिर एक बार मेरे मित्र दीनदयाल भाटिया ने कहानी माँगी। (वे मेरे साथ समाचार-पत्र में काम करते थे, लेकिन नौकरी छोड़कर उन्होंने अपना निज का पत्र निकाल लिया था।) मैंने कहा कि भाई मैं कहानी जल्दी लिख नहीं पाता, जब लिखूँगा तो पहली तुम्हें भेज दूँगा। जब महीनों गुजर गये और मैं उन्हें कहानी नहीं दे पाया तो एक दिन जब मैं सुबह [illegible], उन्होंने [illegible] कमरे में [illegible] और कहा

कि दरवाजा तभी खुलेगा जब कहानी पूरी लिखकर दे दोगे। मैं बहुतेरा चिल्लाया, पर उन्होंने दरवाजा नहीं खोला। तब मैं उनकी मेज पर बैठ गया और मैंने एक कहानी लिख डाली। मेरे कहानी-संग्रह 'पिंजरा' में 'माँ' के नाम से वह प्रकाशित है। बत्तियाँ जल चुकी थीं, जब मैंने कहानी खत्म की। उन्होंने दरवाजा खोला तो मसौदे को बिना दूसरी बार देखे, उनके हाथ में थमाकर मैं चला आया। यह और बात है कि बाद में मैंने उसे तीन बार लिखा।

....इधर कुछ ही वर्ष पहले जब श्री एस० एन० मूर्ति रेडियो स्टेशन इलाहाबाद के डायरेक्टर थे तो मैं बराबर रेडियो के लिए नाटक लिखता था। मैं थीम और नाटक का नाम उन्हें बता देता था, वे शेड्यूल कर देते थे और मैं समय से उन्हें नाटक दे देता था। रेडियो में नाटक शेड्यूल करने से पहले प्रतिलिपि माँगने की प्रथा है, पर मैंने कभी इस प्रथा का पालन नहीं किया, हाँ कभी उन्हें धोखा भी नहीं दिया और मेरे प्रोग्राम में कभी डिवीएशन नहीं हुई। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' शेड्यूल हो गया था कि मुझे कार्यवश कहीं बाहर जाना पड़ा था जाने मैं बीमार हो गया। इतना याद है कि नाटक प्रसारित होने में केवल चार दिन रह गये थे। मूर्ति साहब का [illegible] कि नाटक एक दिन [illegible] करता था। डिक्टेशन [illegible] पत्नी से कहा कि दिन भर मुझे कोई डिस्टर्ब न करे और खाना मेरा मेरे कमरे में भेज दिया जाय। दफ्तर में बैठने [illegible] और साँझ को नाटक [illegible]।

[illegible] शेड्यूल हो गया था [illegible] लिख दिया था।

[illegible] कोई [illegible] नहीं, [illegible] तो

मेरा मूड अपने आप बन जाता है और मैं नाटक, कहानी, कविता, जो चाहूँ, हर वक्त लिख सकता हूँ।

*

लेकिन जैसा कि मैंने पहले कहा, ऐसे जल्दी में अपवाद स्वरूप ही लिखता हूँ और यदि इतनी जल्दी कोई चीज़ लिख भी लेता हूँ तो उसे छपवाने की जल्दी कभी नहीं करता। छः महीना-साल रख छोड़ता हूँ। फिर उठाता हूँ, तो बहुत-कुछ बदल लेता हूँ। कई बार तीन-तीन, चार-चार बार मुझे चीज लिखनी पड़ती है, तब जाकर मुझे सन्तोष हो पाता है।

जब मैं सुनता हूँ कि अमुक लेखक ने एक ही बैठक में पूरी-की-पूरी कहानी या अमुक ने पूरा-का-पूरा नाटक समाप्त कर डाला तो मुझे ईर्ष्या भी होती है और उनकी इस प्रतिभा पर विस्मय भी। सोचता हूँ या तो वे अपनी योग्यता दिखाने के लिए गप हाँक देते हैं या फिर प्रेस के तगादों के कारण जैसा-तैसा बन पड़ता है, मन को जकड़कर लिख फेंकते हैं अथवा वे सचमुच अभूतपूर्व प्रतिभा के स्वामी हैं। एक ही बैठक में दो-चार बार तो अच्छी चीज लिखी जा सकती है, लेकिन हमेशा (कोई अखबारी नहीं, साहित्यिक) उत्कृष्ट कृति रच देना मुझे असम्भव-सा लगता है। मैं शुरू ही से एक चीज को बार-बार लिखने का आदी हूँ। शायद अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भिक वर्षों में मुझे कभी ऐसा अवकाश नहीं मिला कि मैं एक साथ दिन-दिन भर बैठकर कोई कहानी लिखूँ। छः दिन दफ़्तर में काम करता था और इतवार को जो थोड़ा समय मिलता, उसमें लिखने का प्रयास [illegible]

[illegible]

[illegible]

चीज़ बेहतर ज़्यादा बनी और ख़राब कम हुई, इसलिए मैं इस काट-छाँट का क़ायल हो गया।

इसी सम्बन्ध में मुझे अपने मित्र 'अख्यात पत्रकार' की याद आती है, जिन्हें मेरी इस आदत से बड़ी चिढ़ थी। नीला गुम्बद लाहौर के पास, मुझे अच्छी तरह याद है, सेण्ट्रल बैंक के सामने, उन्होंने एक बार मुझे बड़ी संजीदगी से परामर्श दिया—"अश्क तुम फ़ज़ल बुक डिपो के लिए लिखा करो, जितने समय में तुम पाँच-छः बार ठीक करके एक कहानी लिखते हो, दूसरे नावेल लिख देते हैं।"

जिस प्रकार सस्ते रोमानी और जासूसी नावेल छापने और बेचने वाली संस्थाएँ आज हिन्दी में आम हैं (जो पचास-साठ रुपये में एक नावेल ख़रीद लेती हैं) वैसी ही संस्था थी यह फ़ज़ल बुक डिपो। मैं अभी कॉलेज ही में पढ़ता था, जब मैंने [illegible] नाम सुना। उसके पहले उपन्यास की याद शरीर को [illegible]। नाम था 'बेगुनाह क़ैदी'। एक दिन जब मैं सुबह उठा तो अपने मुहल्ले की गली के मोड़ पर मैंने 'बेगुनाह क़ैदी' का बड़ा-सा विज्ञापन लगा देखा। फिर तो दिन भर मैं शहर की जिस गली या बाज़ार में गया, मैंने 'बेगुनाह क़ैदी' का [illegible] देखा और ऐसा मनोरञ्जक और विचित्र [illegible] बुक डिपो, अनारकली, लाहौर का नाम [illegible] याद हो गया।

मैंने 'बेगुनाह क़ैदी' [illegible] से पढ़ा था। लेकिन मैं प्रेमचन्द, सुदर्शन और बंकिम [illegible] पढ़ने लगा था और उनके मुक़ाबिले में [illegible] बड़ा फीका लगा था। '[illegible] पहाड़' और [illegible]।

'बेगुनाह क़ैदी' [illegible], '[illegible]' इत्यादि फ़ज़ल बुक डिपो के [illegible] उनमें

दिलचस्पी कम हो गयी। प्रेमचन्द की कृतियों से रूशनास[1] होने के बाद उनका रंग मन पर नहीं चढ़ा।

मेरे मित्र ने जब मुझे यह मशविरा दिया तो फ़ज़ल बुक डिपो का बैल मौन रूप और मन्थर गति से जासूसी नावेलों की गाड़ी को एक-सी लीक पर लिये जा रहा था। उसकी वह पहले की सी तेज़ी और हुंकारें शिथिल पड़ गये थे। मेरे दो-तीन समकालीन उसके लिए उपन्यास लिखते थे, पर मैं अपनी आदत के अनुसार चार-पाँच बार लिखकर अपनी कहानी को नख-शिख से दुरुस्त बनाने का प्रयास करता था और क्योंकि हाथ अभी पका न था, कला पर अधिकार प्राप्त न हुआ था और समय मेरे पास था नहीं, इसलिए प्रायः एक-एक कहानी को दो-दो तीन-तीन महीने में लिख पाता था।

मेरे वे हितचिन्तक मित्र उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार थे। उनका नाम था पण्डित रत्नचन्द मोहन, पर पत्र-पत्रिकाओं में वे 'ग़ैर मॉरूफ़ जर्नलिस्ट' यानें 'अख्यात पत्रकार' के नाम से ख्यात थे। बड़ी ही अच्छी उर्दू लिखते थे। बुख़ारी-तासीर-ताज ग्रुप से सम्बन्ध रखते थे। पर वे मौलिक कथाकार न थे। अपने साथी लेखकों की तरह पच्छिमी कहानियों को उर्दू का जामा पहना देते थे। अनुवाद न करते थे, एडेप्ट करते थे। यानें यथासम्भव उन्हें हिन्दुस्तानी बना देते थे। वे स्ट्रैण्ड, कॉलियर्स वीकली, ट्रू स्टोरीज़ इत्यादि अँग्रेज़ी-अमरीकी पत्र-पत्रिकाएँ मँगवाते और फिर उनमें ऐसी कहानियाँ छाँट लेते थे, जो हिन्दुस्तानी साँचे में ढाली जा सकें। इस काम में उन्हें कमाल हासिल था। जब उनकी एडेप्टेशन सफल उतरती थी तो वे खुशी से फूले न समाते थे। उसे मित्रों को सुनाते थे और उतना ही सुख पाते थे जितना कि मौलिक लेखक अपनी नयी कृति के सृजन में पाता है।

---

१. रूशनास : परिचित

वे मूल लेखक का नाम भी न देते थे। अपना भी न देते थे। देते थे अख्यात पत्रकार का जो इसी नाम से खूब विख्यात था।

मैं उनकी उन कहानियों को पसन्द करता था—याने उनको, जिनसे वे अपनी कहानी तैयार करते थे—उनसे सीखता भी था, पर उच्चकोटि की उन कहानियों के मुकाबिले की मुझे अपनी अनगढ़ कहानियाँ पसन्द थीं और पण्डित रत्नचन्द की योग्यता के लिए मेरे मन में उतनी क़द्र न थी। एडेप्टेशन मेरी दृष्टि में चोरी थी और चोरी मेरे अहम् को स्वीकार न थी। वे सरकारी दफ़्तर में ट्रान्सलेटर थे। इस तरह कहानियाँ लिखकर उस ज़माने में भी ऊपर से अस्सी-नब्बे रुपये महीना, याने मेरे मासिक वेतन से दुगुना-ढाईगुना, कमा लेते थे और मुझे भी उसी तरह का मशविरा देते थे। वे चाहते थे कि मैं जासूसी नावेलों को हफ़्ते-पन्द्रह दिन में एडेप्ट करके साठ-सत्तर रुपये कमा लिया करूँ, पर मुझे इसके मुकाबिले में चालीस रुपये मासिक पर बारह घण्टे काम करना और अवकाश के समय, जो उन दिनों इतवार ही को मिलता था, मन के मुताबिक कहानियाँ लिखना पसन्द था। वे कहानियाँ चाहे अनगढ़ थीं, कच्ची थीं, पर मेरी थीं—मेरी अपनी—और यह बात मेरे सन्तोष के लिए काफ़ी थी। इसी तरह काट-छाँटकर, बार-बार लिखकर मैंने कहानी लिखना सीखा और बहुत सी लोकप्रिय कहानियाँ लिखीं। अख्यात पत्रकार का परामर्श मान लेता तो पैसे चाहे कमा लेता, पर कहानी एक भी मौलिक न लिख पाता।

*

और आज भी स्थिति वैसी ही है। मेरे पास समय का अभाव नहीं, [illegible], लेकिन बार-बार लिखने की मेरी आदत नहीं [illegible]। [illegible] जीवन में [illegible] पड़ा था कि [illegible] के लिए, जो आगे [illegible] हूँ, [illegible] सकती है। और [illegible] लिखकर

अपने से पहले लिखने वालों की उत्कृष्ट कृतियों से उसका मिलान करके अपनी त्रुटियाँ जाननी चाहिएँ। मैंने बड़े श्रम से आत्मालोचना की यह हिस पैदा की है और यही कारण है कि जब कोई रचना पाठकों, आलोचकों, श्रोताओं अथवा दर्शकों तक को पसन्द आ जाती है, मैं उसे बदल देता हूँ।

मुझे कभी इस काम में उबाहट नहीं होती। अभी एक मित्र ने लिखा है कि जब वे एक बार कहानी लिख चुकते हैं तो फिर उसे कापी करना तक उनके लिए दूभर हो जाता है और वे सोचते हैं कि जितने समय में कहानी को वे कापी करेंगे, उतने में दूसरी कहानी वे क्यों न लिख लेंगे? मेरे ख़याल में थर्ड रेट बीस कहानियाँ लिखने से फ़र्स्ट रेट एक भी लिख पाना श्रेयस्कर है। इसलिए काट-छाँटकर, एक बार नहीं, पाँच बार कापी करने में भी मुझे कभी बुरा नहीं लगा।

पहला मसौदा तैयार करने में ज़रूर मुझे उलझन होती है। उसी के लिखने में मेरा मन भटकता है। पर एक बार जब रफ़ वर्शन तैयार हो जाता है, फिर उसे माँजने-सँवारने में मेरा मन खूब लगता है और मैं प्रायः उस समय तक उसे ठीक करता रहता हूँ, जब तक मुझे पूरा सन्तोष नहीं हो जाता। कभी-कभी इस प्रक्रिया में सारा-का-सारा पहला मसौदा मैं बदल देता हूँ।

लेकिन क्या मैं पूर्णतः सन्तुष्ट हो पाता हूँ? सच कहूँ, तो नहीं। उस वक़्त ज़रूर मुझे सन्तोष हो जाता है, पर कुछ वर्ष बाद जब वही चीज़ पढ़ता हूँ तो कई बातें खटकती हैं। कई बार बदल देता हूँ और कई बार इसलिए छोड़ देता हूँ कि सारी-की-सारी कृति को दोबारा लिखने की समस्या सामने आ जाती है।

*

लिखवाने की सुविधा मुझे ज्यादा नहीं मिली। लेकिन बीमारी के दिनों में मैं काफ़ी दिन तक लिखवाता रहा हूँ और मैंने पाया है, कि नाटक

स्वयं लिखने से लिखवाना बेहतर है। लेकिन मैं कभी इस आदत का गुलाम नहीं बना। मैंने जैनेन्द्र को इसी आदत के कारण अपने साहित्य की ऊँचाई से गिरते देखा है, लिखने वाले की सुविधा न रहने से महीनों निश्चेष्ट बैठे देखा है। इसलिए कभी यदि यह सुविधा मिली है तो मैंने जरूर इसका लाभ उठाया है, नहीं मिली तो स्वयं लिखा है।

लिखवाने से एक लाभ जरूर होता है (कम-से-कम मुझे) और वह यह कि पहला मसौदा लिखने में देर नहीं लगती। लेकिन जैसे मैं अपना लिखा मसौदा सदैव काट-छाँट या बदल देता हूँ, इसी तरह लिखवाया मसौदा भी बदल देता हूँ। कई बार उसे सामने रखकर पूरे-का-पूरा दोबारा लिख देता हूँ।

लिखवाये जाने वाले और स्वयं लिखे जाने वाले मसौदे में अंतर होता है या नहीं? इस प्रश्न पर एक बार एक मित्र से बहस हो गयी। मैंने कहा, दूसरों की बात मैं नहीं कहता, पर मेरे यहाँ नहीं होता। 'धर्मराज' के ग्यारह परिच्छेद मैंने अल्मोड़ा के प्रवास में लिखवाये थे, लेकिन यदि कोई यह बता दे कि कौन से लिखवाये गये हैं और कौन से लिखे गये हैं तो मैं उसकी [illegible] लगा जाऊँ। मित्र पुस्तक ले गये और [illegible] उन्होंने जिन परिच्छेदों पर निशान लगाया कि वे लिखवाये गये हैं, वे शुरू से आखिर तक मैंने स्वयं लिखे थे। जिन्हें उन्होंने स्वयं लिखे हुए बताया, उनमें ही वे ग्यारह परिच्छेद भी थे जो मैंने लिखवाये थे।

*

मेरे जीवन में ऊसर पीरियड नहीं के बराबर है। [illegible] ने '[illegible]' में लिखा है कि कभी ऐसा भी होता है, जब [illegible] नहीं लिखा जाता। कई बार तो मन ही नहीं होता, पर कई बार मन होता है,

समय भी होता है, पर लिखा नहीं जाता। ऐसे लेखकों की बात भी मैंने पढ़ी है जिन्होंने महीनों-वर्षों कुछ नहीं लिखा और फिर जब उधर पलटे तो बहुत अच्छी चीजें लिख गये। मेरे साथ कभी ऐसा नहीं हुआ कि मन लिखने को हो, पास में समय भी हो और लिखा न जाय। घरेलू परेशानियों और इधर व्यावसायिक परेशानियों के कारण हो सकता है कि मैं सात-दस दिन या जब दौरों पर निकलता हूँ तो महीना-दो महीना कुछ न लिख पाऊँ, लेकिन मैं लिखना चाहूँ और कलम साथ न दे, ऐसा कभी नहीं हुआ।

जो लेखक केवल उपन्यास, या केवल कहानी, नाटक या कविता लिखते हैं, शायद एक ही चीज लिखते-लिखते ऊब जाते हैं, या उनका सरमाया—यानें पका हुआ सरमाया—चुक जाता है और लेखनी रुक जाती है। मैंने बहुत पहले इसका हल निकाल लिया था और वह यह कि जब मैं एक चीज लिखते-लिखते ऊब जाता हूँ या देखता हूँ कि चीज अच्छी नहीं उतर रही तो उसे छोड़कर कुछ और लिखने लगता हूँ—कहानी के बाद नाटक, नाटक के बाद उपन्यास हाथ में ले लेता हूँ। मन भी बहल जाता है और लिखने की गति भी नहीं रुकती। अपनी अनुभूतियों को सदा मैं दिमाग के विभिन्न खानों में डाले पकाता रहता हूँ, इसलिए यदि कहानी का सरमाया चुक जाता है तो जिन एकांकियों के विचार पक चुके होते हैं, उन्हें लिखने लगता हूँ, वे चुक जाते हैं तो उपन्यास या लेख में हाथ लगा देता हूँ और इस तरह दिमाग कभी ऊसर नहीं होता। एक ओर बीज पड़ते, अंकुरित होकर पकते रहते हैं, दूसरी ओर फ़सल कटती रहती है और यों साहित्य-सर्जना निरन्तर जारी रहती है।

●

मैं किसके लिए लिखता हूँ ?

मैं किसके लिए लिखता हूँ ? कोई भी रचना करते समय मैंने अपने आप से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा। जब भी किसी घटना, चरित्र, विचार अथवा समस्या ने मुझे प्रभावित, परेशान या ऑप्रेस (आक्रान्त) किया है, मैंने सदा उसे किसी रचना द्वारा अंकित कर, उसके भार से मन को मुक्त किया है। भरा हुआ बादल जैसे बरसने के लिए विवश है, इसी तरह मैं लिखने को विवश हूँ।

कोई किसके लिए लिखता है ? इसका एक उत्तर नहीं, भिन्न लेखक इसका भिन्न उत्तर देंगे :

कोई महज रोजी कमाने के लिए लिखते हैं।

कोई वक्त काटने के लिए महज शौकिया लिखते हैं।

कोई ख्याति की आकांक्षा के लिए लिखते हैं।

कोई किसी पार्टी-विशेष के आदेशों की पूर्ति के लिए लिखते हैं।

कोई किसी विशेष विचार-धारा के प्रतिपादन के लिए लिखते हैं।

कोई अपने मन के सन्तोष के लिए लिखते हैं।

ज़्यादा अपनी : कम परायी

मैं जब अपने लेखन की प्रक्रिया के बारे में सोचता हूँ तो पाता हूँ कि अपने मन का सन्तोष मेरे लिए सर्वोपरि रहा है। उस मन के सन्तोष के पीछे किसी विचार-धारा का प्रतिपादन भी हो सकता है, ख्याति की आकांक्षा अथवा किसी मित्र का अनुरोध भी हो सकता है, पर केवल रोजी की समस्या उस सन्तोष के पीछे प्रायः नहीं रही।

रोजी कमाने के लिए लिखने वाले लेखक को पत्रिका के सम्पादक अथवा प्रकाशक अथवा ग्राहक का मुँह देखना पड़ता है। जैसी चीज़ें वे चाहते हैं, वैसी लिखनी पड़ती हैं।

मेरे सामने कुछ वर्षों को छोड़कर, यह समस्या कम ही रही। मैं रोजी के लिए पहले पत्र-पत्रिकाओं में और बाद में दूसरी जगह नौकरी करता रहा और अवकाश के समय अपनी अन्तःप्रेरणा से, अपने विचारों के अनुसार, अपने सन्तोष के लिए, लिखता रहा। किसी दूसरे की इच्छा अथवा आदेश के अनुसार लिखने की समस्या मेरे सामने कम ही आयी। रोजी कमाने के लिए मैंने अखबार बेचे, अनुवाद किया, विज्ञापन लिखे, ट्यूशनें कीं, रिपोर्टरी की, रेडियो और फ़िल्म में नौकरी की, लेकिन पैसे के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध मैंने कम ही लिखा।

ऐसे लोगों को, जो यह जानते हैं कि मैंने सदा अपनी कृतियों के लिए पारिश्रमिक चाहा है और कई बार पेशगी लिया है, मेरी बात में कुछ विरोधा-भास दिखायी देगा, लेकिन यह सत्य है कि पारिश्रमिक ने मुझे कभी 'ऐसा' अथवा 'वैसा' लिखने पर बाधित नहीं किया। मैं अपने मन के मुताबिक लिखता रहा हूँ। कई बार चीज़ें वर्षों मेरी फ़ाइलों में अप्रकाशित पड़ी रही हैं, पर जब छपी हैं, मैंने उनका पारिश्रमिक लिया है। कई बार जब मुझे किसी से पेशगी पारिश्रमिक पाने पर अथवा किसी मित्र के अनुरोध की रक्षा के लिए, लिखना पड़ा है तो मैंने अपने दिमाग में पकते हुए किसी नाटक अथवा कहानी को [illegible] भर दिया है। अच्छा या बुरा—जो

भी मैंने लिखा, कुछेक कृतियों को छोड़कर, सदा अपने सन्तोष के लिए लिखा।

शायद मैं इसीलिए ऐसा कर सका कि रोजी की समस्या कभी मेरे सामने वैसी विकट नहीं रही। जरूरत भर के लिए रुपया कमाना मुझे कभी भी कठिन नहीं लगा। मेहनत करने में किसी प्रकार का संकोच न होने के कारण, मैंने आवश्यकता भर के लिए सदा कमा लिया और शेष समय को साहित्य-सृजन के सुख और सन्तोष में लगाया। इसीलिए किसी दूसरे का सन्तोष कभी मेरा उद्देश्य नहीं रहा। कई बार ऐसा भी हुआ कि मित्रों, पाठकों और आलोचकों ने किसी चीज की प्रशंसा भी की, पर मुझे सन्तोष नहीं हुआ और मैंने उसे बदल दिया।

रोजी कमाने के लिए लिखना बुरा है अथवा जो रोजी के लिए लिखता है, वह अनिवार्यतः बुरा लिखता है, यह बात नहीं। बाल्जाक और दास्त-वस्की ने [illegible] दूर करने के लिए लिखा और प्रायः अच्छा लिखा। [illegible] कि उन्होंने चाहे पैसे के लिए लिखा, पर लिखा अपनी अन्तःप्रेरणा से।

हमारे देश में अच्छे साहित्य के बल पर जीना अब भी कठिन है। इसीलिए यदि साहित्य से रोजी कमाना भी अभीष्ट हो तो [illegible] लिखी जायँगी जिनकी माँग प्रकाशक अथवा साधारण पाठक [illegible] है। [illegible] रोजी दूसरे साधनों से कमाता रहा और अवकाश के [illegible] लिखता रहा।

[illegible] कि यदि अपना सुख और [illegible] सुख और सन्तोष [illegible] क्यों हूँ ?

[illegible]

छपवाता हूँ। किसी समस्या पर यदि मैं शिद्दत से सोचता हूँ तो सामाजिक प्राणी के नाते चाहता हूँ कि दूसरे भी सोचें और जब दूसरे भी उस अनुभूति को पाते हैं, उसी तरह सोचते हैं अथवा मेरी रचना को पसन्द करते हैं तो मेरा सुख और सन्तोष दुगुना हो जाता है।

तो मुझे अपना सन्तोष ही अभीष्ट नहीं, दूसरों का सन्तोष भी अभीष्ट है। पर प्रश्न उठता है कि किन दूसरों का?

और तब प्रश्न का उत्तर उतना आसान नहीं रहता। कई बार ऐसा होता है कि मैं जैसे महसूस करता हूँ, मेरी रचना को पढ़कर दूसरे वैसे महसूस नहीं कर पाते। तब दो ही बातें सामने आती हैं—या मेरी रचना में त्रुटि है अथवा पाठक या आलोचक का स्तर भिन्न है।

आज़ादी से सोचने और लिखने वाले को कभी-न-कभी ऐसी स्थिति से दो-चार होना पड़ता है। भवभूति ने कभी ऐसी ही स्थिति में लिखा था, 'काल की कोई अवधि नहीं और पृथ्वी विपुला है, कभी-न-कभी मेरा समान-धर्मा पैदा होगा जो मेरी रचनाओं का उचित मूल्यांकन करेगा।' इसमें सन्देह नहीं कि लेखक अपने समय से, समय की विचार-धाराओं और समस्याओं से प्रभावित होता है, पर कई बार उसके सोचने और लिखने का ढंग ऐसा होता है कि पाठक या आलोचक उसका साथ नहीं दे पाता। और कई बार वह अपने समय के लिए, उसके बारे में लिखता हुआ भी उसकी परिधि पार कर जाता है और पाठक अथवा आलोचक उसके पीछे रह जाते हैं।

मेरे सामने यह समस्या उतनी शिद्दत से नहीं आयी। प्रायः मेरी कृतियाँ लोकप्रिय हुई हैं। यदि आलोचकों ने कुछ कृतियों को पसन्द नहीं किया तो पाठकों ने उन्हें अपनाया है। लेकिन तो भी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनका मूल्यांकन वैसा नहीं हुआ, जैसा कि मैं समझता था कि होना चाहिए। ऐसी स्थिति में भवभूति की कामना को दुहरा कर सन्तोष पाने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं।

लेकिन यह इस प्रश्न का आत्म-परक रूप है—जहाँ मन के सन्तोष का सवाल है। लेकिन सामाजिक प्राणी के नाते जब मेरे दायित्व का प्रश्न उठता है और मैं सोचता हूँ कि मैं किसके लिए लिखता हूँ तो कई बातें सामने आ जाती हैं।

सबसे पहले मुझे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के एक अग्रलेख की याद आती है जो उन्होंने अप्रैल १९३४ के 'विशालभारत' में लिखा था। मैं यद्यपि तब उर्दू में लिखता था पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ बाक़ायदा पढ़ता था और 'विशालभारत' मेरी प्रिय पत्रिका थी। चतुर्वेदी जी के लेख का नाम था—'कस्मै देवाय !'

वक्ताओं के-से जोश से उन्होंने लिखा था—

'सेठ जी दिन भर सट्टेबाजी करके, रात को भरी हुई जेब और खाली दिमाग़ लेकर घर लौटते हैं। अवश्य ही उनकी मोटी अक्ल और कमजोर स्नायुओं के लिए किसी हल्की चीज की जरूरत है। वे ऐसी कहानियाँ पढ़ना पसन्द करेंगे, जिनमें कोई निरुद्देश्य युवक किसी कामुक युवती से आँखें लड़ा रहा है। सेठ जी के निर्बल अंगों को तभी सन्तोष हो सकता है जब गल्प-लेखक उस युवती को उस युवक के साथ भगा दे।'

और चतुर्वेदी जी ने पूछा था—"क्या हम इन सेठ जी के लिए लिखें ?"

और इसी लहजे में उन्होंने मनचिकलों को पढ़ने वाले [illegible], कॉलेज के एक बेफ़िक्रे छात्र और किसी रिश्वत लेने वाले अफ़सर की ऊबी, थकी बेकार लड़की का उल्लेख किया था जो चटपटी चीजें पसन्द करती है और पूछा था—क्या हम इनके लिए लिखें ?

फिर अन्त में उन्होंने एक किसान का ज़िक्र किया था जो जान तोड़ मेहनत करने पर भी इतना नहीं पाता कि दो जून पेट भर सके, धीरे-धीरे [illegible] और [illegible] है, पर तो भी काम करने को विवश है। और उन्होंने पुकारा था कि हमें इस किसान के लिए लिखना चाहिए।

मुझे अच्छी तरह याद है, उस अंक में उन्होंने उस किसान का चित्र भी छापा था और श्री श्रीराम शर्मा द्वारा लिखा उसका संस्मरण भी प्रकाशित किया था और महात्मा बुद्ध के प्रवचन का उल्लेख कर लेखकों को परामर्श दिया था कि जन के सुख, जन के हित और जन की अनुकम्पा के लिए लिखना चाहिए।

आज भी उस लेख की याद मेरे मन में ताजी है, विशेषकर इसलिए कि उस लेख में सरलता के बावजूद जो उलझाव था, वह बाद के प्रगतिशील आन्दोलन में भी वैसा ही रहा और आज भी है।

यद्यपि चतुर्वेदी जी की यह बात मुझे ठीक लगी कि जन के हित, जन के सुख और जन की अनुकम्पा के लिए लिखना चाहिए, पर जिस तरह उन्होंने वह प्रश्न रखा वह मुझे ग़लत लगा।

जिस किसान का उन्होंने जिक्र किया वह शायद अनपढ़ था, साहित्य उसको लेकर सृजा जा सकता है, पर उसके लिए वह काला अक्षर भैंस बराबर है।

फिर यदि वह कुछ पढ़ जाय तो क्या गारण्टी है कि जब वह थक-हार-कर घर आयेगा तो उसको रोमानी और चटपटी चीजें अच्छी न लगेंगी।

जन के मनोरञ्जन को यदि उद्देश्य बनाकर लेखक साहित्य सृजेगा तो वह चटपटा ही होगा। मैं यू० पी० के देहात की बात नहीं जानता, पर पञ्जाब में जहाँ चार किसान-मजदूर इकट्ठे होते हैं, 'हीर रांझा,' 'सोहनी महीवाल,' 'सस्सी पुन्नू' और 'शीरीं फ़रहाद' के किस्से गाते हैं और उन निरुद्देश्य, निठल्ले प्रेमियों के रोमान में आनन्द पाते हैं। उनकी स्थिति उस सेठ, वकील, कॉलेज के छात्र अथवा धनी बाप की उस बेकार बेटी से कैसे भिन्न है? आज ये जो इतनी फ़िल्में बनती हैं, ये किनके बल पर चलती हैं?—प्रकट है कि उसी अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित जनता के बल पर। इसलिए जन का सुख (मनोरञ्जन के अर्थों में) किसी प्रबुद्ध लेखक का

उद्देश्य नहीं हो सकता। जन का सुख (हित के अर्थों में) उसका उद्देश्य होना चाहिए

लेकिन यहीं दो-एक उलझनें पैदा हो जाती हैं।

पहली यह कि 'जन' में कौन शामिल है और कौन शामिल नहीं है ?

दूसरी यह कि लेखक अपनी जिस कृति को जन-हिताय रचित समझता है, उसी में कुछ आलोचक जन का अहित समझते हैं। इसका निर्णय कौन करे ? क्या सत्तारूढ़ आलोचक अथवा कोई राजनीतिक दल अथवा सरकारी अफ़सर ?

जहाँ तक जनता का प्रश्न है, हमारे कुछ प्रगतिशील आलोचक केवल मजदूर-किसानों को जनता समझते हैं। निम्न मध्यवर्ग, मध्यवर्ग और उच्च वर्ग उनके ख़याल में जनता नहीं और उनके लिए अथवा उनके बारे में साहित्य लिखना समय और सामर्थ्य का अपव्यय करना है।

मैं समझता हूँ कि यदि साहित्य की सीमाएँ इस तरह बाँध दी जायँ तो संसार के क्लासिकल साहित्य का बहुत बड़ा भाग बेकार हो जाता है। कालिदास की शकुन्तला क्या उस समय की जनता का चरित्र-चित्रण करती है ? तालस्ताय का अमर उपन्यास 'वार ऐण्ड पीस' क्या मजदूरों-किसानों का चरित्र-चित्रण करता है और क्या यदि मजदूर-किसान जनता शिक्षित होगी तो उन कृतियों में आनन्द न पायेगी ?

ये आलोचक जो केवल मजदूर-किसानों को लेकर साहित्य-सृजन पर ज़ोर देते हैं—समझ लेते हैं कि मजदूर-किसान सदा मजदूर-किसान रहेंगे, कभी शिक्षित होकर उच्च कोटि के साहित्य का रस-पान न कर सकेंगे और साहित्यिक को अपनी कला की बुलन्दियों से उतरकर साहित्य-सृजन करना चाहिए, आज जो वर्ग पढ़ा-लिखा है, उसके लिए न लिखकर जो अशिक्षित है, उसके लिए लिखना चाहिए, शायद ऐसा वे चाहते हैं।

यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मैं उस साहित्य को उच्चकोटि का मानता हूँ, जो कला की तमाम बारीकियों के बावजूद बोधगम्य हो और जिसमें पूर्ण-शिक्षित और अर्ध-शिक्षित समानरूप से रस पा सकें। मेरा अपना साहित्य कहाँ तक इस आदर्श पर पूरा उतरता है, यह मैं नहीं कह सकता, पर मेरा उद्देश्य यह अवश्य रहा है। मैं सदा यह प्रयत्न करता हूँ कि साधारण पाठक कला की बारीकियों को चाहे न समझ पाये, पर रचना को दिलचस्पी से पढ़ अवश्य जाय।

लेकिन मैं ऐसी कलाकृति की कल्पना कर सकता हूँ, जिसका स्तर आम पाठक की समझ से किंचित ऊँचा हो। हमारे कुछ आलोचकों का दावा है कि ऐसे साहित्य की कोई जरूरत नहीं। मेरे ख़याल में ऐसे साहित्य की जरूरत है—उन के उन पाठकों के लिए जो पूरे तौर पर शिक्षित होकर उस कृति की कला का रसास्वादन कर सकेंगे।

यदि हम केवल आज की अनपढ़, विपन्न जनता के स्तर ही का ख़याल रखें तो साहित्य ही का नहीं, दूसरी ललित कलाओं का भी एकदम गला घोंट देना होगा। कश्मीर में जो इतनी सुन्दर कला-कृतियाँ बनती हैं, उनकी क्या जरूरत है? मजदूर-किसान तो उनका उपभोग नहीं कर सकते, जनता का काम उनके बिना चल जाता है। लेकिन इस पर भी स्वतन्त्र देश को अपने इन कलाकारों पर गर्व है। आदमी की निम्नतम जरूरतें बड़ी थोड़ी हैं, लेकिन जब वह उन्हें पा लेता है तो कुछ और चाहता है, उसकी सौन्दर्यानुभूति जगती है और वह अपने वातावरण को सुन्दर बनाना चाहता है, अपनी बेकार घड़ियों में कुछ रस की सृष्टि करना चाहता है। और उसे ललित कलाओं की आवश्यकता पड़ती है।

यहीं हम फिर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा उठाये गये प्रश्न पर आते हैं—तो क्या उस रस की सृष्टि चटपटी चीजों द्वारा की जाय? क्योंकि हमारी अर्ध-शिक्षित जनता तो उसी में रस पाती है।

मेरे ख़याल में साहित्य का स्तर एक ओर पाठकों के आर्थिक और बौद्धिक स्तर पर निर्भर करता है, दूसरी ओर साहित्यिक के अपने स्तर पर।

यदि पाठक आर्थिक और बौद्धिक रूप से पुष्ट हैं तो वे सरस और उत्कृष्ट रचनाएँ पढ़ना पसन्द करेंगे और कला की बारीकियों को भी समझेंगे और उनमें रस पायेंगे।

कलाकार यदि ऊँचे स्तर का है तो वह अपने पाठकों का मनोरञ्जन करने के साथ-साथ उनकी मानसिक और बौद्धिक भूख भी मिटायेगा।

यदि दोनों का स्तर नीचा है तो निम्नकोटि का चटपटा साहित्य पढ़ा और लिखा जायगा। यदि वह चटपटा न होगा तो भी कला और शिल्प से विहीन होगा।

किसी ऊँचे दर्जे के कलाकार से यह माँग करने की अपेक्षा कि वह कला-बला को छोड़कर साधारण जनता की [illegible] की चीज़ें लिखे, मेरे ख़याल में एक ओर पाठकों के स्तर को ऊँचा करने का प्रयास करना चाहिए, दूसरी ओर लेखक से यह माँग करनी चाहिए कि वह अपनी कृति को कला के प्रसाधनों से वेष्टित करने के साथ उसे यथासम्भव बोधगम्य बनाये और रस देने के साथ-साथ [illegible] उठाये।

और मैंने अपने [illegible] है और मैं कोशिश करता हूँ कि जहाँ मेरी रचनाएँ जन का मनोरञ्जन करें, वहाँ उसका कल्याण भी करें।....लेकिन इसका निर्णय कौन करे कि लेखक की रचना जन का हित करती है, अहित नहीं ?

पहला निर्णायक तो कलाकार स्वयं है, दूसरा समय, याने इतिहास और तीसरा सामयिक परिवर्तनशील वातावरण !

जहाँ तक कलाकार के स्वयं निर्णायक होने का प्रश्न है, उसकी पहली शर्त यह है कि वह दयानतदार और [illegible] हो, अपनी [illegible] का

निरपेक्ष भाव से (औब्जेक्टिवली) मूल्यांकन कर सके और पर-आलोचना के साथ-साथ आत्मालोचना की भी क्षमता रखता हो। यह काम कठिन है और प्रायः साहित्यिक, 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के अनुरूप अपनी कृतियों के दुर्गुण नहीं जान पाते। लेकिन ऊँचे दर्जे के साहित्यिकों ने साहित्य के इतिहास में बार-बार यह किया है। महाकवि ग़ालिब ने जब अपना दीवान संकलित किया तो बीसियों शेर बड़ी निर्ममता से काट दिये। चूँकि कवि अपनी रचना के प्रति इतना निर्मम हो सका, इसीलिए अपने बारे में कह भी सका—

'तुझे हम वली समझते जो न बादा-ख्वार होता।'

उसके समकालीनों को उसकी यह गर्वोक्ति चाहे न स्वीकार हुई हो, पर इतिहास ने उसे स्वीकार किया।

रहा इतिहास, तो कोई रचना, जो जन का अहित करती है, किसी समय में कितनी भी लोकप्रिय क्यों न हो, अधिक समय तक लोकप्रिय नहीं रहती। इतिहास उसे भुला देता है। लेखकों, आलोचकों अथवा पाठकों की कोटियाँ / विशेषकर जब वे दल-गत पार्टी अथवा राजसत्ता-गत [illegible] ठीक मूल्यांकन कर सकती हैं, इसमें मुझे सन्देह है। हो सकता है कि वे एक लेखक का ठीक मूल्यांकन करें और दूसरे का एकदम ग़लत। लेखकों और आलोचकों ने अपने समकालीनों के सम्बन्ध में सदा ग़लत मत दिये हैं। रहे पाठक, तो जहाँ तक समूह का सम्बन्ध है, उन्हें किसी कृति के पक्ष या विपक्ष में, कम-से-कम अस्थायी काल के लिए भड़काया जा सकता है। जर्मनी में हिटलर का ज़माना इस बात का साक्षी है। लेकिन यदि कृति में दम है तो जल्द या बदेर बा: [illegible] मिलने पर इतिहास में स्थान पा लेती है।

रचना की उत्कृष्टता का अन्तिम निर्णायक तो इतिहास है, लेकिन कई बार जब समय अथवा प्रचलित रूढ़ि की उपेक्षा किसी लेखक का ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकती अथवा जब राजसत्ता चाहे अस्थायी काल के लिए ही सही, इतिहास को अपनी नीति के अनुसार बदल देती है, तब जागरूक सम्वेदनशील वातावरण ही उसकी पुनः प्रतिष्ठा करके इतिहास के पन्ने उसके लिए सुरक्षित करता है। कई बार ऐसा होता है कि कोई लेखक अथवा कवि अपने समय से आगे बढ़ जाता है, तब वह स्वयं अथवा कोई आलोचक उसके अनुकूल वातावरण बनाता है। ग़ालिब को स्वयं वह वातावरण बनाना पड़ा था। छायावाद के कवियों ने स्वयं वह वातावरण बनाया। आज के ज़माने में नयी कविता के लिए इलियट को स्वयं यह वातावरण बनाना पड़ा। फिर इतिहास द्वारा भुला दिये गये उमरखय्याम को फ़िट्ज़जेरल्ड ने खोद निकाला और उसके लिए उपयुक्त साहित्यिक वातावरण तैयार किया।

प्रायः यह कहा जाता है कि लेखक अपनी रचना का स्वयं निर्णायक नहीं हो सकता, क्योंकि हर लेखक अपनी कृति को अच्छा समझता है, इसलिए लेखकों और पाठ [illegible]
हैं कि वह उत्कृष्ट [illegible]
लेखक की असमर्थता मैं मानता हूँ, लेकिन राजसत्ता [illegible] अथवा सरकारी या अर्द्ध-सरकारी आलोचक यह काम [illegible] हैं, इसमें [illegible] सन्देह है। उनके हाथों साहित्य का अहित भले [illegible]। उदाहरण के लिए यदि कोई प्रधान मन्त्री अथवा किसी सत्तारूढ़ पार्टी का प्रधान अथवा सेक्रेटरी खुले आम किसी कृति को निकृष्ट घोषित कर देता है तो किस [illegible] (जिन्होंने [illegible]) कि उसका विरोध करें। [illegible]

सकते हैं, लेकिन सरकारी या अर्द्ध-सरकारी कमेटी या राजनीतिक पार्टी के सदस्य नहीं ले सकते। कृति लाख जन-हिताय लिखी गयी हो पर वे उसमें जनता का अहित ढूँढ़ निकालेंगे।

*

लेकिन 'लिए' शब्द में शायद 'के बारे में' भी निहित है। जब चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि हमें शोषित किसान-मजदूरों के लिए लिखना चाहिए तो उनका अभिप्राय था कि लेखकों को उनके सम्बन्ध में, उनकी समस्याओं को लेकर लिखना चाहिए।

तब श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने चतुर्वेदी जी के उस लेख के उत्तर में 'विशाल भारत' ही में लिखा था कि साहित्य का घेरा बहुत बड़ा है। रिश्वतखोर अफ़सर की जिस बेटी के प्रति चतुर्वेदी ने बड़ी उपेक्षा का भाव दर्शाया है उसकी कुण्ठा ही एक बड़ी सुन्दर कहानी का विषय हो सकती है जो शायद उस किसान के संस्मरण से बेहतर साहित्यिक कृति बन जाय। साहित्य का घेरा मानव-मात्र को अपने में समो लेता है, किसान-मजदूर, धनी-निर्धन, बेकार-आवारे, निठल्ले और निकम्मे, वेश्याएँ, टखियाइयाँ, जुआरी और दुराचारी सभी उसका अंग बन सकते हैं। लेखक का उद्देश्य उनके चरित्र-चित्रण में क्या है, उसने अपने पात्रों को कितनी करुणा, कितनी सम्वेदना दी है, यही दो बातें उसकी रचना की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का फ़ैसला करती हैं। गोर्की ने स्वयं अपनी कहानियों में ऐसे पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी मानवीयता से किया है। एलेग्जेंडर कुप्रिन का उपन्यास 'यामा' वेश्यालय का चित्रण होने के बावजूद रूसी साहित्य का क्लासिक है।

लेखक अपनी सामग्री का प्रयोग किस प्रकार अपने साहित्य में करता है, इसी से उसकी शक्ति और जागरूकता की पहचान हो जाती है। आज

के युग में राजाओं और नवाबों का, मिटते हुए सामन्तवाद का चित्रण करना बुरा नहीं, पर यदि लेखक उस दौर को फिर लाना चाहता है तो प्रकट है कि वह इतिहास का पहिया पीछे को मोड़ना चाहता है और उसकी यह कोशिश सारी कलाकारिता के बावजूद असफल रह जायगी। जागरूक लेखक प्रायः समय का साथ देता है, बल्कि कई बार आगे की सोचता है। वह अपने साहित्य में किस सामग्री का प्रयोग करता है, यह महत्वपूर्ण नहीं, किस दृष्टि से प्रयोग करता है, यह बात महत्व की है।

जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत प्रश्न है, मैं चतुर्वेदी जी की बात से सहमत होते हुए भी किसान-मजदूरों के बारे में ज्यादा नहीं लिख सका। मैं निम्न मध्यवर्ग में पैदा हुआ, पला और बढ़ा और उसी वर्ग का चरित्र-चित्रण मैंने अपनी कृतियों में अधिकांशतः किया है। बिना किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का पूरा ज्ञान प्राप्त किये, साहित्य-सर्जना मेरे ख़याल में बददयानती है। लेखक जहाँ है, जिस वर्ग में है, जिस प्रदेश में है, जिसका पूरा ज्ञान उसे प्राप्त है, उसी वर्ग, समाज और प्रदेश को जन-कल्याण और जन-सुख के हेतु उसे अपने साहित्य में चित्रित करना चाहिए, ऐसी मेरी धारणा है। यदि लेखक किसानों और मजदूरों से उठा है अथवा उनमें रहता है तो उन्हें [illegible] उसके लिए गलत होगा। इसी तरह उच्च [illegible] बिना निम्न वर्ग की परिस्थितियों का पूरा ज्ञान प्राप्त किये, केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर, उनका चित्रण करना ठीक न होगा और उसके साहित्य में वह गुण न आयेगा जो अनुभूति के सच्चे और खरेपन से पैदा होता है।

*

लेकिन व्यक्ति और समाज में गढ़े साहित्य का एक रूप और है जो देश-काल के बन्धन में नहीं बँधता। उत्कृष्ट साहित्य वह माना गया है जो

देश-काल की सीमाओं को लाँघ जाता है। तो क्या लेखक को केवल अपने समाज की अथवा व्यक्ति की तात्कालिक समस्याओं तक ही अपने आप को सीमित रखना चाहिए अथवा आने वाली नस्लों का भी खयाल करना चाहिए? और मैं वर्तमान के लिए लिखता हूँ अथवा भविष्य के लिए?

वास्तव में ये प्रश्न जितने सीधे हैं, उनके उत्तर उतने सीधे नहीं। मैंने यथासम्भव सरलता से इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक आने वाली नस्लों के लिए लिखने का प्रश्न है, पहली बात तो यह है कि कौन साहित्यिक कृति देश-काल की सीमाओं को लाँघ जायगी और पचास अथवा सौ वर्ष बाद भी उसी चाव से पढ़ी जायगी, यह कहना कठिन है। हो सकता है कि जिस कृति के बारे में लेखक समझता है कि सौ वर्ष बाद जिन्दा रहेगी, वह उसकी जिन्दगी ही में गुमनामी के गर्त में जा पड़े और जिस कृति को वह केवल तात्कालिक समस्या के हल के लिए लिखता है, वह अपनी अनुभूति की सचाई और खरेपन के कारण सदियों बाद भी पढ़ी जा सके। मेरे खयाल में अनुभूति की सचाई और खरापन (Authenticity) अपने पात्रों के प्रति लेखक की सम्वेदना और करुणा, दृष्टि की बारीकी और विशालता रचना को सार्वभौमिकता और अमरत्व प्रदान करती है। यों लेखक को इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए और अमरत्व के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। कम-से-कम मैं ऐसा नहीं करता। वर्तमान को भूलकर अपनी दृष्टि आज से सौ वर्ष बाद पर रखना मेरे लिए कठिन है। आज से पचास-सौ वर्ष बाद के पाठक यदि मेरी कृतियों को पढ़ें और मेरे समाज और वर्ग, उसके सुख-दुख, उलझनों और पेचीदगियों को जान सकें तो मैं अपना श्रम असफल नहीं समझता। इतिहास-लेखक भी यही काम करता है, पर जहाँ इतिहासज्ञ केवल किसी काल के बाहर का ज्ञान देता है, साहित्यिक उस काल के अन्तर में झाँकता है। हम इस

पर नेपोलियन के आक्रमण के बारे में जो बात इतिहास में पढ़कर नहीं जान पाते, वह तालस्ताय के 'वार एण्ड पीस' को पढ़कर जान लेते हैं। यहीं साहित्य कोरे इतिहास से भिन्न पड़ जाता है।

मैं सदा इस बात की कोशिश करता हूँ कि अपनी अनुभूतियों की सचाई और खरेपन तथा कला और शिल्प की सौष्ठवता के साथ अपने वर्ग और समाज का चित्रण करूँ—समाज के हित और कल्याण के लिए—मेरी कृति आज से सौ वर्ष बाद जिन्दा रहेगी या नहीं, इसकी चिन्ता मैं नहीं करता।

और रही 'किसके लिए लिखने' की बात, तो जो कृति छप जाती है वह किसी एक की नहीं रहती। उन सबके लिए हो जाती है जो उसे पढ़ सकते हैं—अमीरों के लिए अथवा उनके बारे में लिखी गयी चीज को ग़रीब मजदूर पढ़ सकते हैं और मजदूर-किसानों के लिए लिखी गयी चीज में धनी-मानी भी रस ले सकते हैं। यदि उसमें सार्वभौमिकता के गुण हैं तो वह देश, काल और वर्ग की सीमाओं को लाँघ जायगी और यदि वे गुण उसमें नहीं हैं तो वह लाख शोर मचाने पर भी गुमनामी के गर्त में जा पड़ेगी।

पुरानी डायरी के पन्ने

मैं नियमितरूप से डायरी नहीं लिखता, न वैसे ही लिखता हूँ, जैसे डायरियाँ लिखी जाती हैं। कभी कोई विचार, संस्मरण, व्यक्तिगत घटना, कोई मनोवैज्ञानिक सत्य, किसी लेख, पुस्तक अथवा फ़िल्म के बारे में अपना मत नोट भर कर लेता हूँ। कभी बाक़ायदा लिखता हूँ, कभी महीनों, वर्षों नहीं लिखता।

पिछले दिनों पुराने कागज देखते हुए एक पुरानी डायरी के कुछ पृष्ठ हाथ लग गये। उनमें से कुछ पन्ने एक अपेक्षाकृत नयी डायरी के पन्नों के साथ यहाँ संकलित हैं।

महत्त्वाकांक्षा

आँसू बनकर मत गिरो, बादल बनकर बरसो। बादल बन-कर मत बरसो, नदी बनकर चलो। नदी बनकर मत चलो, महानद का प्रवाह धरो।

महानद का प्रवाह छोड़ो, सागर का विस्तार गहो !

२४ जनवरी १९३१

सिर-फिरा कवि

महाराज सभा में पधारे तो सारी की सारी सभा उनके स्वागत में खड़ी हो गयी। तने मस्तक नत हो गये और पुलकित करों ने फूल बरसाये।

केवल एक व्यक्ति बैठा रहा, न उसका तन हिला न मस्तक। वह गाव-तकिये से पीठ लगाये उसी तरह अकड़ा बैठा रहा।

उससे—केवल उससे—महाराज की आँखें चार हुईं और उनके अपने हाथ मस्तक की ओर उठ गये।

वह राज्य का प्रसिद्ध कवि था, पर लोग उसे सिर-फिरा कहते थे।

२ मार्च १९३१

दिल है एक सराय

दिल भी एक सराय है दोस्त। कई हसीन सूरतें वहाँ आकर बसेरा पाती हैं और कुछ क्षण को इसके पट पर कुछ रेखाएँ बना कर मिट जाती हैं—सागर-तट पर नश्वर चिन्ह बनाने वाली लहरों की तरह, डालियों में अटककर निकल जाने वाले झोंकों की भाँति !

लेकिन ऐसी सूरतें भी हैं जो सराय में आकर निकलने का नाम ही नहीं लेतीं और ऐसी अविनश्वर रेखाएँ मानस के पट पर अंकित कर देती हैं, जो फिर मिटाये नहीं मिटतीं।

हल्की लहरें नहीं, तूफ़ान ही किनारों पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। हल्के झोंके नहीं, आँधियाँ ही पेड़ों को हिला जाती हैं।

लेकिन मेरे दिल का तट अभी तक किसी ऐसे आँधी-तूफ़ान से अपरिचित है—एक सराय है, सूनी और ख़ामोश, उत्सुक और बेचैन।

३१ मार्च १९३१

आकाशगामी

सुन्दर तन्वी के गुलाबी गाल पर आँसू का कण अहंकार के नशे में काँप उठा, वह उस साम्राज्य का स्वामी था, जहाँ देवताओं के पंख भी जलते थे।

फूल के रेशमी बिछौने पर शबनम का मोती सूरज की पहली किरण के साथ जागा और उसने गर्व से अँगड़ाई ली—किरण की बुलन्दी में भी पस्ती थी और उसकी पस्ती में भी बुलन्दी।

जल-थल का स्वामी—चक्रवर्ती सम्राट्—अपने महल की सबसे ऊँची छत पर बैठा अपने साम्राज्य के विस्तार को सोल्लास निरख रहा था, जो उसके एक हल्के से भ्रू-भंग पर अस्त-व्यस्त हो सकता था।

और धरती अपनी बाँहें फैलाये, इन सब आकाशगामियों को अपनी मिट्टी में फ़ना कर देने को तत्पर थी।

३ जुलाई १९३१

आँसुओं का गीत

कभी सोचता हूँ—जिन्दगी एक आँसुओं का गीत है शायद।

बचपन रोते बीतता है, जवानी इस या उसके लिए लम्बी साँसें भरते गुज़रती है और बुढ़ापा जवानी की याद में आँसू बहाते।

हँसी के क्षण शायद इसलिए आ जाते हैं कि हम साँस ले सकें और आँसुओं के इस गीत को जारी रख सकें।

लेकिन शुक्र यही है कि मैं कभी ही ऐसा सोचता हूँ, नहीं तो जिन्दगी को जीना कठिन हो जाय।

५ जुलाई १९३१

कगार का दर्प

कगार ने दर्प से सिर ऊँचा किया और नीचे बहने वाली नदी की ओर देखकर कहा "मेरी शान ही में तेरी शान है, मैं न होऊँ तो तुझे कोई नदी न कहे।"

नदी जोर से हँसी और दूसरे रेले में उसने कगार को बहा दिया।

६ अगस्त १९३१

कवि-गुरु से

तेरे पास कई तरह के शागिर्द आते हैं।

कुछ तुझसे अपने लिए कविताएँ लिखवाते हैं कि वे तेरे तुफ़ैल कुछ ख्याति पा सकें। ये सब भिखारी हैं। इनकी झोली में कुछ फ़ालतू छन्द डाल दे, ये उन्हीं से सन्तुष्ट हो जायँगे, कवि-गुरु बनना इनके भाग्य में नहीं।

वे जो तेरे पास आते ही झुक जाते हैं, तेरे चरण चूमते हैं, तेरी प्रतिभा की प्रशंसा करते नहीं थकते, डाकू हैं। बातों के भुलावे में तेरी सारी पूंजी छीन लेना चाहते हैं। इनको प्रश्रय न दे!

वह जो चुपचाप तेरे पास आता है और तेरे सामने अपनी टूटी-फूटी कविताएँ सुधारार्थ रख देता है, तू ठीक कर देता है तो ले जाता है, नहीं चुपचाप चला जाता है, वही तेरा असली शागिर्द है। इसकी सहायता कर और अपनी पूंजी इसे सौंप, यही तेरा नाम रौशन करेगा।

६ सितम्बर १९३१

ग़रीब की शिकायत

"यदि मुझे धन-वैभव न दिया था तो दिल इतना उदार क्यों दिया?" निर्धन ने लम्बी साँस भरकर कहा।

"अमीरों की तंग-दिली देखकर!" दिल बोल उठा।

१० अक्तूबर १९३१

स्नेह और रक्त

दीवाली की खुशी में धनाधीश ने अपने भवन के तारीक से तारीक कोने को दियों की रोशनी से जगमगा दिया है।

उन दियों के प्रकाश में आशा की वह ज्योति है जो उसके हृदय से निराशा का अँधेरा दूर भगा रही है; एक नशा है जो उसे सरशार कर रहा है; जादू है जो उसे अपना-आप भुलाये दे रहा है।

उन दियों के प्रकाश में वह अपनी उत्तरोत्तर उन्नति के सपने देख रहा है, इसीलिए उनमें तेल के बदले घी जला रहा है। लेकिन ग़रीब को तेल तो दूर, चिराग़ तक मयस्सर नहीं।

अपनी अँधेरी कोठरी में बैठा वो अपनी आँखों के दिये जला रहा है।

उनके प्रकाश में वह निराशा का अँधेरा देखता है जो उसके दिल में आशा की ज्योति को मिस्मार किये दे रहा है, [illegible]

विभीषिका देखता है, जिसने उसका सारा नशा, सारी मस्ती हर ली है।

इन दियों की रोशनी में वह अपनी बढ़ी आती भूख और फटे-हाली के भयानक चित्र देख रहा है, इसीलिए इनमें स्नेह के बदले उसके हृदय का रक्त जल रहा है।

१० नवम्बर १९३१

●

अमर खोज

जब पतझड़ का शासन था और बेलों के गहने बयार के निर्दय डाकुओं ने लूट लिये थे, जब पेड़-पौधे अपने नंगेपन को दुःख और हसरत भरी निगाहों से तक रहे थे और वन-उपवन में समीर को सुगन्धि के बदले पौधों की लम्बी-गर्म साँसें ही मिलती थीं—मुझे रूप और प्रेम किसी की खोज में भटकते हुए दिखायी दिये।

उनके कपड़े अस्तव्यस्त थे, बाल बेपरवाही से बिखरे थे, मुख पीत, ओठ शुष्क और उनकी आँखों की मस्ती अस्त हो चुकी थी।

मैंने उनका रास्ता रोक लिया और पूछा—"तुम्हें किस चीज की तलाश है?"

"वसन्त की", उन्होंने उत्तर दिया और अपनी खोज में चल पड़े।

*

जब बसन्त का राज था और बेलें फूलों के गहनों से लदी झूले झूल रही थीं, जब पेड़-पौधे अपनी नयी भूषा को गर्व की

दृष्टि से देख रहे थे और वन-उपवन में समीर जी भरकर सुगन्ध बटोर रही थी—मुझे रूप और प्रेम फिर दिखायी दिये।

उनके केश सुन्दरता से गुँथे हुए थे, मुख लाल, ओठ मधु-गीले और नयनों में मस्ती के सागर उमड़ रहे थे, किन्तु वे अब भी किसी की खोज में निमग्न थे।

मैंने उन्हें रोक लिया और पूछा—"अब तुम्हें किस चीज की तलाश है?"

"अनन्त वसन्त की", उन्होंने उत्तर दिया, और फिर अपनी मुहिम पर चल पड़े।

८ फरवरी १९३२

नयी डायरी के पृष्ठ

नये अध्यापक

मारलन ब्राण्डो की पिक्चर 'वाटर फ्रण्ट' पैलेस में लगी थी। हम काफ़ी पहले पहुँच गये, इसलिए मैंने स्वभावानुसार एक रुपया पाँच आना वाले दो टिकट ले लिये और चूँकि जेब में रेज़गारी न होने के कारण रिक्शा के पैसे न दिये थे और कौशल्या वहीं बैठी थी, मैं टिकट लेकर बाहर को लपका — देखा, सीढ़ियों पर, कुछ ही दिन पहले विश्वविद्यालय में नियुक्त होने वाले, एक मित्र खड़े उससे बात कर रहे हैं। परे उनके दूसरे मित्र डटे हैं, जिनमें नये कवि भी हैं, उपन्यासकार भी और आलोचक भी— पर सबसे बढ़कर यह कि सब नये अध्यापक हैं।

"अच्छा भई आप लोग भी आये हैं?" मैंने दूर ही से पूछा, "पिक्चर देखने का इरादा है अथवा योंही सिविल लाइन्स में...."

हँसकर उन्होंने कहा कि इरादा तो है।

"किस दर्जे में जा रहे हो?"

"वही जिसमें हम जैसे मध्यवित्त के लोग जा सकते हैं।"

वे सदा दो रुपये दो आने वाले दर्जे में जाते थे, इसलिए मैंने पूछा, "दो रुपया दो आने वाले में?"

"हाँ।"

"मैंने तो भाई एक रुपये पाँच आने वाले टिकट लिये हैं।"

"तो हम भी उसी में चले आयेंगे।"

"तो मैं सीटें रोकता हूँ। कितने मित्र हैं?"

उन्होंने गिनकर बताया कि आप छः सीटें रोकिए।

कौशल्या और मैं हाल में चले गये और हम दोनों दो पंक्तियों में जा बैठे और हमने अपने साथ तीन-तीन सीटें रोक लीं।

तभी जब मैं कुछ क्षण बाद कौशल्या से बात करने के लिए पीछे को मुड़ा तो मैंने देखा कि पिछले दो रुपये दो आने वाले दर्जे में प्रो० ज० अपने गोल-मटोल शरीर के साथ बड़े सन्तोष से ओठ फैलाये, लुढ़कते चले आ रहे हैं। उनके पीछे उनके अन्य प्रोफ़ेसर मित्र हैं।

दूसरे मिनट हमारे वही मित्र दरवाजे में नमूदार हुए और उन्होंने मुझसे बात सुनने का संकेत किया। मैं उठकर गया तो उन्होंने कहा—"श्री ज० इस दर्जे में बैठने को तैयार नहीं। बात यह है कि यहाँ हमारे छात्र भी आ जाते हैं और. . . ."

"हाँ, हाँ मैं आपकी पोजीशन समझता हूँ, आप जाइए, वहीं बैठिए।"

"नहीं, अब मैं वहाँ नहीं बैठूँगा। यहाँ बैठता तो श्री ज० को बुरा लगता, इसलिए मैंने गैलरी का २ रु० १० आने का टिकट लिया है। मैं ऊपर जा रहा हूँ।"

और दोनों हाथ मस्तक के ऊपर ले जाते हुए वे मुड़े। मेरे सामने विदेश के अध्यापकों की सूरतें घूम गयीं जो यूनिवर्सिटी के बाहर छात्रों के साथ घुल-मिल जाते हैं।

मैं वापस मुड़ा, सीटें छोड़ दीं और कौशल्या के साथ पिछली सीट पर जा बैठा।

तभी न्यूज रील शुरू हो गयी।

इण्टरवल में कौशल्या ने सहसा कहा, "वो शायद र० जी बैठे हैं।"

और मैंने देखा—हमसे कई सीटें आगे रेलवे पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन, प्रसिद्ध नेता और लेखक श्री र० अपनी लड़की के साथ बैठे हैं।

"ज़रा भी अभिमान नहीं र० जी में, दो हज़ार रुपये मासिक पाते होंगे पर...." कौशल्या ने कहना चाहा।

"खाली आसमान ही सिर उठाये रहता है," मैंने कहा, "भरा तो नत हो जाता है।"

२१ जुलाई १९५६

●

सौन्दर्य

रिक्शा में प्रेस जा रहा था कि अचानक मिसेज बी० की याद आ गयी। क्यों? कारण समझ में नहीं आता। पिछली शाम एक बड़े अफ़सर के यहाँ चाय थी। हम वहाँ गये थे। मिसेज बी० वहाँ थीं तो सदा उनकी पत्नी के साथ चिपकी रहती थीं। रिक्शा पर बैठे-बैठे शाम की पार्टी का ख़याल आया तो अचानक मिसेज बी० का चेहरा भी आँखों के आगे घूम गया। यह रिक्शा भी अजीब सवारी है। कहीं पहुँचने की जल्दी न हो और मौसम अच्छा हो तो दुनिया-जहान की बातें दिमाग़ में आ जाती हैं।

मिसेज बी० सुन्दरी हैं और फिर शृंगार के आधुनिक प्रसाधन उनके सौन्दर्य को कुछ अजब-सा दहका देने वाला, कुछ आमन्त्रण देता-सा गुण प्रदान कर देते हैं, जो दिखाता ज्यादा है, छिपाता कम है। मुझे यह सौन्दर्य पसन्द नहीं। पर मेरी पसन्द से तो दुनिया के सौन्दर्य का हिसाब नहीं होता। सारे शहर में वे सुन्दरी प्रसिद्ध हैं।

मुझे उन्होंने एक बार एक नाटक की रिहर्सल पर आमन्त्रित किया था। रिहर्सल में देर हो गयी तो उन्होंने वहीं लंच लेने को मजबूर किया।

खाना खाते समय वे आम के अचार की पूरी फाँक हाथ समेत मुँह में डाल, उसे निहायत भद्देपन से चूसती रहीं। मुझे बड़ी कोफ़्त हुई—बड़ी हसीन, पढ़ी-लिखी, सुसंस्कृत युवती को सरे बाज़ार देहातिनों की तरह उँगलियों से चाट खाते देखकर होने वाली उलझन सरीखी। हालांकि हसीन औरत भी इन्सान है, उसे अपनी रुचि के अनुसार खाने का अधिकार है, पर इतने सजे-सजाये ढंग से रहने वाली महिला, जिसके ड्राइंग-रूम में पैर रखते समय संकोच हो कि उसका ग़ालीचा या कोच मैले न हो जायें, उन पर सिलवटें न पड़ जायें, यदि उस भद्दे ढंग से, हाथ मुँह में ले जाकर, अचार की गुठली चूसे, तो न जाने क्यों, मन को कुछ धक्का-सा लगता है।—हो सकता है, यह महज़ मेरा पूर्वग्रह है।

शायद मैं सुन्दर, सुसंस्कृत युवती में सब कुछ सुन्दर और संस्कृत देखना चाहता हूँ — केवल शारीरिक सौन्दर्य और दिखावे की संस्कृति मुझे सन्तुष्ट नहीं कर पाती।

और यह मैं लिख रहा हूँ, जिसने खाने, पहनने, बोलने में कभी इस शिष्टता अथवा संस्कृति का ध्यान नहीं रखा। पर जो मुझमें नहीं है, शायद उसी की पूर्ति मैं दूसरों में चाहता हूँ अथवा मेरे बाहर के औघड़पन में गहरी सौन्दर्यानुभूति छिपी है। यह भी हो सकता है कि कौशल्या के साथ इतने वर्ष गुज़ारने पर मैं यह सब अनजाने सीख गया हूँ।

*

कल शाम जिन बड़े अफ़सर के यहाँ चाय पी थी, उनकी बीवी भी कलाकार प्रसिद्ध हैं। नाटक लिखती ही नहीं, खेलती और खेलाती भी हैं। काफ़ी अतीव सुन्दरी भी रही होंगी—बहुमूल्य [illegible], बहुमूल्य फ़र्नीचर, सजा-सजाया ड्राइंग-रूम, [illegible] नन्ही-सी क्यारी में [illegible] रंग-बिरंगे फूल—[illegible] में कुछ अजीब-सा रौब

तारी हो जाता है। तभी चाय शुरू होती है और मैं कुछ क्षण बाद देखता हूँ कि अतिथियों को मिठाई अथवा नमकीन मिला है कि नहीं, उनके लिए दूध अथवा चाय की पूरी व्यवस्था हो गयी है या नहीं, बिना इसकी चिन्ता किये सब कुछ बैरों पर छोड़, वे एक ओर खड़ी पकौड़े और कोफ़ते और चॉप्स खाये जा रही हैं—"काश इतने सुरुचिपूर्ण और सुन्दर ढंग से रहने वाले आचरण में भी सुन्दर और सुरुचिपूर्ण होते. . . . !"

*

रिक्शा पर बैठे-बैठे मुस्करा उठा—कौशल्या की शिष्टता और सुरुचि का मैं सदा मजाक उड़ाता रहा हूँ और वह मेरे फक्कड़पने का, पर उसे क्या मालूम कि वर्षों तंग, सील-भरे, गन्दे, अनगढ़, असंस्कृत वातावरण में रहने वाले इस फक्कड़ के मन में सौन्दर्य की कैसी भूख छिपी है—दिखावे के सौन्दर्य की नहीं—असली सौन्दर्य की।

२६ जुलाई १९५६

संकोच

एशियाई लेखक-सम्मेलन के प्रेप्रेट्री कमेटी की बैठक में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली जा रहा था।

कानपुर से एक जोड़ा गाड़ी में सवार हुआ। जगह थी नहीं। सो ट्रंक पर बिस्तर लगाकर पति-पत्नी बैठ गये। दोनों युवा, दोनों सुन्दर! पत्नी का स्वर भी सुन्दर! जब वे खाना खा चुके तो पत्नी ने आदेश दिया कि ताश निकाला जाय। और वे दोनों खेलने लगे। पहले उन्होंने स्वीप खेली, फिर उससे ऊब कर रमी खेलने लगे, फिर तिनपत्ती....

मुझे सदा ऐसे लोगों से ईर्ष्या होती है जो समय को इस आसानी से काट सकते हैं। मेरे पड़ोस में एक अँग्रेज भाई-बहन रहते हैं। दोनों ७० की वयस पार कर गये हैं। भाई रिटायर्ड गार्ड है और बहन ३० वर्ष की उम्र में विधवा हो गयी थी। दोनों गत पन्द्रह वर्षों से एक ही मकान में रह रहे हैं। बहन ने तो खैर मुर्गियाँ और कई तरह के तोते पाल रखे हैं और उनकी देख-रेख में व्यस्त रहती है, पर भाई सिवा सुबह पाँच बजे उठकर चाय बनाने के सारा-सारा दिन कुर्सी पर मौन बैठा रहता है, या घण्टों बैठा पेशेन्स खेलता रहता है—[illegible] ऊबता नहीं, अकुलाता

नहीं।' —मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ—मेरे लिए तो एक दिन भी चुपचाप लेट या बैठ सकना कठिन है।

मैंने आन्द्रे जीद के जर्नल का एक भाग साथ ले लिया था और उसे पढ़ रहा था कि सहसा मैं उस लड़की की हँसी से चौंका और कुछ क्षण को उनका खेल देखने लगा। तब वे स्वीप खेल रहे थे। युवती ने एक अच्छा हाथ खेला तो मेरे ओंठों पर मुस्कान आ गयी। खेल ख़त्म हुआ तो उसकी आँखों में कुछ ऐसा भाव आ गया कि यदि मैं भी खेल में भाग ले सकूँ तो बड़ा अच्छा हो। उसने पति को संकेत भी किया। पति के मस्तक पर बड़े हल्के से तेवर बन गये। मैंने जर्नल आगे कर लिया और इस तरह पढ़ने लगा जैसे आज ही उसे खत्म कर लूँगा। पति के संकोच को मैं समझता था।

चार-पाँच घण्टों में ऐसा चार-पाँच बार हुआ, लेकिन पति को (जो विलायत हो आया था और अब कहीं प्रोफेसर था, पर था मेरी तरह जालन्धरी) एक अपरिचित को साथ खेलाने का साहस नहीं हुआ।

वे खेलते रहे और मैं जीद के जर्नल को दृष्टि की खुर्पी से छीलता रहा।

२८ जुलाई १९५६

आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्सां होना

दिन भर भाभी जी के साथ स्कूटर रिक्शा पर घूमता रहा। यह दिल्ली कितनी फैल गयी है। मैं जिन दिनों दिल्ली में था तो जो स्थान नितान्त निर्जन थे और जहाँ कभी पुरातत्ववेत्ता ही दिल्ली के खण्डहरों की खोज में पहुँचते थे, अब छोटे-मोटे नगर बने दिल्ली के आँचल में सितारों-से टँके हैं (यह उपमा तो शायद मैंने पहले भी कभी प्रयोग की है। यह मेरी इस समय की भावना से मेल भी नहीं खाती। नितान्तअनुपयुक्त है।) दिल्ली तो इस समय ऐसा बड़ा-सा फोड़ा लगती है जिसका मवाद चारों ओर फैल गया है और न जाने कितने छोटे-बड़े व्रण दिल्ली की इस धरती के शरीर पर उठ आये हैं।

और भीड़—वह बूलवर्ड रोड, जिसके एक किनारे मैं दो बरस तक रहा हूँ और जो सरे-शाम ही सुनसान दिखायी देती थी, अब गयी रात तक रिक्शों, ताँगों, मोटरों, बसों और ट्रकों से घड़घड़ाती रहती है।

शाम को सात बजे के लगभग लौटा। स्कूटर में घूमते रहने से [illegible] [illegible]। घर में पैर रखा ही था कि [illegible] ने [illegible] का तार दिया—

'गमी बीमार है, काम खत्म करके जल्दी पहुँचो।'

यद्यपि शरीर में शक्ति नहीं थी, पर रात चिन्ता में न काटें, इस डर से सोचा, राजकमल जाकर घर पर फ़ोन करने का प्रयास करूँ।

लेकिन एक घण्टा बैठे रहने के बावजूद लाइन नहीं मिली। तब सोचा कि एक्सप्रेस डिलिवरी से चिट्ठी लिख दूँ कि काम खत्म होने में चार-पांच दिन हैं, तबीयत बहुत खराब हो तो काम छोड़कर चला आऊँ। दुकान से बाहर निकला। एक स्कूटर रिक्शा रोका। चार आने के बदले उसने बारह आने स्टेशन तक के माँगे। मैं बैठ गया। मीलों के हिसाब से किराया देना होता तो वह ऊपर से घूमकर स्टेशन ले जाता, लेकिन किराया तय हो गया था, इसलिए वह अन्धाधुन्ध चाँदनी चौक में से ले चला।

लाजपतराय मार्केट के सामने ही एक स्त्री सहसा सड़क पार करते हुए स्कूटर के आगे आ गयी। उसको बचाने के प्रयास में ड्राइवर एक ताँगे से जा भिड़ा और स्कूटर के बग़ल की बत्ती का बल्ब टूट गया।

"साली को मारी क्यों नहीं टक्कर?" सहसा वहीं खड़े एक दूसरे स्कूटर वाले ने कहा, "ले लेते नीचे।"

मेरे स्कूटर का ड्राइवर टूटे बल्ब को देख रहा था। पलटकर बोला, "अच्छा हुआ नहीं लिया, वर्ना महीनों कचहरी की खाक छानते।"

"हम तो नहीं छोड़ते। दो महीनों की सजा ही तो हो जाती। साले अन्धे होकर चलते हैं।" दूसरे रिक्शा वाले ने कहा।

लेकिन वह औरत निकल गयी थी। मेरा ड्राइवर उस ताँगे वाले से जा भिड़ा और उस बेकसूर को वाही-तबाही गालियाँ देने लगा।

*

रात को सोया तो यह घटना फिर मेरे सामने आ गयी। सुबह से शाम और कभी-कभी रात तक ऑटो-रिक्शा चलाते-चलाते ये ड्राइवर

कैसे हैवान हो जाते हैं, यही सोचता रहा। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि वे छः-सात घण्टे से अधिक काम न करें, उतने ही वक्त में इतना कमा लें कि अपना तथा अपने कुटुम्ब का पेट पालने के साथ-साथ कुछ मनोरञ्जन भी कर सकें, आराम कर सकें और आदमी बनें और अपना ही नहीं, दूसरे का भी दुख-दर्द समझें।

मन एकदम कड़ुवा हो गया और बहुत देर तक नींद नहीं आयी।

४ अगस्त १९५६

फ्रॉड

रात देव जी के यहाँ डिनर था। भाभी और '—जी' विशेषकर आमन्त्रित थे। देव जी के और उनके कार्यालय में इधर कुछ तनाव आ गया था और चूँकि उसे दूर करने में किंचित मेरा भी हाथ था, इसलिए देव जी ने उन्हें डिनर पर बुलाया तो हमें भी बुला लिया।

भाभी के अन्दाज़ में वही पुरानी शान और दिखावा था—अपना कीमती ओवरकोट उन्होंने विलायत में कहाँ से और कितने में खरीदा, इसका ब्योरा कोट के रूओं पर हाथ फेरते हुए वे बड़ी सरपरस्ती से कौशल्या को देती रहीं—और '—जी' के स्वर में वही पुराना व्यंग्य और तानेकशी—वे अपने व्यंग्य के तीर मौका मिलने पर निरन्तर मुझ पर छोड़ते रहे।

*

इधर जब से मैंने सुना है कि मेरा स्वीकृत और अधछपा लेख उन्हीं की राय से रोका गया था और उन्होंने धमकी दी थी कि यदि लेख फिर आगे छपना शुरू होगा तो वे त्यागपत्र दे देंगे—मैं बराबर यह सोचता

रहा हूँ कि उनके आक्रोश का क्या कारण है। क्योंकि बिना किसी आन्तरिक चुभन के कोई व्यक्ति अन्याय के पक्ष में वैसा हठ नहीं कर सकता, विशेषकर जब वह अन्याय किसी मित्र के प्रति हो रहा हो।

ज़िन्दगी के इस लम्बे और रंगा-रंग सफ़र में मैंने पाया है कि किसी आदर्श के पर्दे में मित्र जब मित्र का अहित करता है तो उस विरोध के पीछे प्रायः व्यक्तिगत विद्वेष, ईर्ष्या, आहत अहं अथवा हृदय के गुह्यतम स्तर में अनायास पैदा हो उठने वाली नफ़रत ही रहती है—यद्यपि वह सब आदर्शों और मान्यताओं के इन्द्रजाल में दिखायी नहीं देता।

परसों सुबह एशियन राइटर्स कान्फ्रेन्स की बैठक में मुझे उनके आक्रोश के कारण का पता चल गया। मीटिंग खत्म होने पर सहसा वे सामने पड़ गये तो मैंने कहा कि इधर आप बहुत दिनों से इलाहाबाद नहीं आये। तब पट से उन्होंने मेरे मुँह पर दे मारा, 'आयें क्या, तुम तो आते को चाय भी नहीं पूछते।'

मैं चौंका—दिमाग़ पर ज़ोर डालने पर भी मुझे वैसा अवसर याद नहीं आया, जब मेरे घर में उनकी ऐसी अवमानना हुई हो। मुझे तो यही स्मरण है कि जब-जब वे मेरे यहाँ आये, उनके स्वागत-सत्कार में मैंने अपनी बिसात से कुछ ज्यादा ही किया. . . .पहली बार जब वे मेरे यहाँ आये थे (याने मेरे यहाँ ठहरे थे, क्योंकि इलाहाबाद तो वे पहले भी कई बार आये होंगे) तो मैंने एक बड़ी पार्टी दी थी. . . .फिर एक बार रात के दस बजे उन्होंने ब्राण्डी पीने की इच्छा प्रकट की (वे प्रायः ब्राण्डी साथ रखते हैं, लेकिन तब शायद उनका स्टाक खत्म हो गया था।) तब अपने कुछ [illegible] मालिक मकान को जगाकर दुकानें बन्द हो जाने के बावजूद उसके साथ जाकर मैं उनके लिए ब्राण्डी की बोतल ले आया. . . .वे सुबह पाँच बजे चाय पीते हैं और हम आठ बजे उठने के आदी हैं, पर जब-जब वे मेरे यहाँ ठहरे, कौशल्या सुबह पाँच बजे उठकर उनके लिए स्वयं चाय तैयार करती रही . . . . ऐसी कई बातें मेरे दिमाग़ में घूम गयीं।

लेकिन जब मैंने इस तथ्य की ओर उनका ध्यान खींचा तो उन्होंने पटाख से सव्यंग्य कहा, "वह तभी तक था, जब तक तुम्हें मुझसे काम था।"

"काम ! क्या काम ? मेरा कौन-सा काम आपसे अटका था ?"

लेकिन वे हँसकर टाल गये कि मैं मजाक भी नहीं समझता।

मीटिंग खत्म होने के बाद कुसियों के पीछे से दीवार के साथ-साथ वे दरवाजे की ओर बढ़ रहे थे कि हमारी मुठभेड़ हो गयी थी। वहीं खड़े-खड़े क्षण भर में यह अभियोग वे मुझपर लगा गये। मैं न जाने कहाँ जाने का, किससे मिलने का प्रोग्राम बनाकर गया था, पर उनके पास से निकल जाने पर कहीं और जाने के बदले घर लौट आया।

"बड़ी जल्दी आ गये।" कौशल्या ने कहा। वह यद्यपि मेरे साथ ही कान्फ्रेन्स के दिनों में दिल्ली आयी हुई है, पर हर रोज विज्ञान-भवन नहीं जाती।

मैंने उसे सारी बात बता दी।

"मैंने टाला था।" सहसा उसने कहा, "आप उस शाम वहाँ नहीं थे, वे उस बार हमारे यहाँ नहीं, लूकरगंज में ठहरे थे और अपनी 'उसी' के साथ मिलने आये थे, मैं सिविल लाइन्स को जा रही थी, इसलिए मैं चाय को नहीं पूछ सकी। और फिर जिस तरह वे हमारे यहाँ बैठकर व्यवहार करने लगे हैं, वह मुझे पसन्द नहीं।"

कौशल्या की बात सुनकर मैं चुप हो गया। वास्तव में '---जी' की एक दूर के रिश्ते की लड़की इलाहाबाद में उन दिनों रहती थी। तब वे प्रायः इलाहाबाद आया करते थे। उससे मिलने जाते थे। वह भी आती थी। एक-दो बार उसने हमारे यहाँ खाना भी खाया। फिर एक बार ऐसा हुआ कि वह डिनर को भी रह गयी। '---जी' डिनर से पहले थोड़ी-सी लेते हैं। उन्होंने बोतल निकाली और उससे ढालने को कहा। उसने निःसंकोच ढाल दी। वे कुछ ज्यादा पी गये और कुछ मुखर भी हो गये।

कौशल्या को पहले तो उस वक्त, जब वे पी रहे थे, उस लड़की का यहाँ बैठना बुरा लगा, फिर '—जी' को शराब ढालकर देना अखरा और तब उस हल्के मूड में जो दो-एक मजाक उन्होंने किये वे खल गये। उसका चेहरा तमतमा गया। वह जाने क्या कहने आयी थी। तिनतिनाती हुई किचन में चली गयी और फिर नहीं आयी।

वास्तव में '—जी' के और कौशल्या के संस्कारों में अंतर है। वे अपने यहाँ जब पीते हैं तो भाभी प्रायः उनका साथ देती हैं। मेरे यहाँ मित्र कभी पियें तो कौशल्या उस समय तक कभी नहीं आती, जब तक मित्र पी-पिला न चुकें।

सच्ची बात कहूँ तो मुझे उस शाम कुछ वैसा बुरा नहीं लगा। मेरे पिता तो किंचित नहीं, काफ़ी पीते थे, पूरी-की-पूरी बोतल खाली कर देते थे और पीकर जाने क्या-क्या वाही-तबाही बोलते और '—जी' ने उस दिन जो मजाक किये होंगे वैसे तो मैं बिन पिये ही कर देता हूँ। लेकिन कौशल्या मुझे कोई वैसा सभ्य अथवा शिष्ट नहीं समझती। (उसका अपने आप को हम लोगों से कहीं ज्यादा सभ्य और शिष्ट समझना मुझे अखरता तो है, पर इस सम्बन्ध में कुछ किया नहीं जा सकता।)

बहरहाल, चूँकि वह बुरा मान गयी, मैं उठकर उसके पीछे रसोई-घर में गया और मैंने उसे समझाया भी, पर उसका (और जब बाद में बात चली तो भैरव का भी) यह कहना था कि यह सब होटलों में होना चाहिए और उनका क्रोध मुझ पर था कि मैं क्यों इन बातों को प्रश्रय देता हूँ। अब बात यह है कि जैसे मैं उनको आज कौशल्या को नहीं समझा सकता, कौशल्या भी उनको नहीं समझा सकती। [illegible] मालूम है कि कौशल्या [illegible] और इसे पर भी मैं कभी [illegible] नहीं कह सकता। जिस मित्र को हम इतना मान देते आये हैं, जिसकी इतनी आव-भगत करते आये हैं, उससे कैसे [illegible] कहें। यह [illegible] दूसरी बात है।

९

पर '---जी' कोई साधारण अतिथि तो नहीं थे और कौशल्या में अपने भावों को छिपाने की क्षमता नहीं, मन में जो होता है उसके चेहरे पर झलक आता है। उन्होंने कुछ समझा तो, पर उसके आक्रोश और मेरे उखड़ेपन (Awkwardness) का जो कारण उन्होंने सोचा, उस पर मुझे हँसी भी आयी और खेद भी हुआ। काम उनसे मुझे क्या निकालना था। अपने बम्बई के प्रवास में जब एक दिन गिरगाँव के हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर से उनकी पुस्तकों का सेट ले आया था तो मुझे उनकी कुछ रचनाएँ बड़ी अच्छी लगी थीं, और मेरे मन में उनसे मिलने, उन्हें अधिक जानने की इच्छा थी। वैसा ही कुछ स्नेह-भाव उनके प्रति था, जो अपने प्रिय लेखक के लिए होता है। चूँकि उमर में वे मुझसे पाँच-छः बरस बड़े हैं, इसलिए मैंने अपने यहाँ अपने बड़े भाई की तरह उनका सत्कार किया है। काम यदि उन्होंने मेरा कुछ किया भी तो १९४९ ही में जब हम अल्मोड़ा में पहली बार मिले और वापसी पर मैं उनके यहाँ गया। उसी सौहार्द से कृतज्ञ होकर तो मैं अपनी बिसात से बाहर उनकी आव-भगत करता रहा।

*

देव जी के घर उन्होंने जहाँ और कई व्यंग्य मुझ पर किये, वहाँ दूसरों को सुनाकर यह भी पूछा, "सुना है तुमने अपना कहानी-संग्रह 'बैंगन का पौधा' राजस्थान के कृषि विभाग में यह कहकर ढाई सौ बेच दिया कि वह कृषि सम्बन्धी पुस्तक है।"

हठात् समझ में नहीं आया कि मैंने कब ऐसा किया। जब मैं राजस्थान के दौरे पर गया था तो 'बैंगन का पौधा' छपी भी न थी। और जब छपी थी तो मैं नहीं, कौशल्या दौरे पर गयी थी।

तभी मुझे वह घटना याद हो आयी जो कौशल्या ने राजस्थान के दौरे से आकर मुझे सुनायी थी। वह जोधपुर में थी जब श्री देवराज जी उपाध्याय के

एक छात्र श्री गोवर्द्धन उसे लेकर अपने कॉलेज में गये थे। टीचर्स रूम में उन्होंने कौशल्या का परिचय सभी अध्यापकों को दिया और उनसे हमारी कुछ पुस्तकें खरीदने की प्रार्थना की। तब कृषि विभाग के अध्यापक सहसा बोले, "बहन जी, हमने तो अश्क जी की पुस्तक 'बैंगन का पौधा' पहले ही अपने विभाग की लायब्रेरी के लिए खरीद ली है।"

बात इतनी-सी है। कौशल्या ने तब वह कई जगह सुनायी भी थी और अध्यापक महोदय की समझ पर हम लोग हँसे भी थे। दो-तीन वर्ष में उसका यह रूप बन गया और '—जी' जैसे उपन्यासकार मित्र ने उस पर विश्वास भी कर लिया। लेकिन स्नेह गुण खोजता है और विरोध दुर्गुण। अब यदि उनसे कोई कहे कि अश्क ने अमुक जगह चोरी की है तो न केवल वे विश्वास कर लेंगे, वरन् उसका प्रचार भी करेंगे। उनकी बात से मैं चौंका तो, पर चूँकि उनकी तकलीफ़ का पता परसों सुबह चल गया था, इसलिए मैंने उनकी बात रद्द नहीं की। बल्कि हँसकर कहा, "ढाई सौ नहीं, भाई, पाँच सौ। मैंने तो 'बैंगन का पौधा' की ५०० प्रतियाँ राजस्थान के कृषि विभाग के लिए बेची थीं।"

और वे बड़े प्रसन्न हुए (कि मेरे चरित्र के बारे में उनकी सूचना ठीक ही निकली और वे आज तक बड़े भ्रम में रहे।) जोर से ठहाका मारकर हँसे और बोले, "यार तुम सच कहते हो, तुम जैसा फ्रॉड हिन्दी में दूसरा नहीं।"

२६ दिसम्बर १९५९

संस्मरण
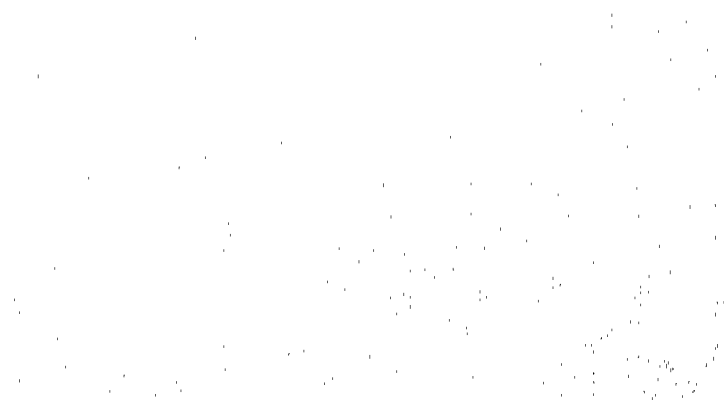
इश्कपेचा और जंजीर

मैं सुबह ज़रा देर से उठता हूँ——साढ़े छः, सात, साढ़े सात, आठ! कभी जब मेरा छोटा बच्चा मुंह-अँधेरे उठकर गहरी नींद में सोयी अपनी माँ को तंग करने लगता है और 'मम्मी उठो,' 'मम्मी भूख लगी है,' 'मम्मी चाय कब आयेगी?' की रट लगा देता है अथवा अपने आप प्यानो के स्वर पर सीखी हुई——'अ, आ, इ, ई' रटने अथवा 'इस दिल के टुकड़े हज़ार हुए' या ऐसा ही कोई फ़िल्मी गीत गाने लगता है तो दूर लेटे हुए भी मेरी नींद उचट जाती है। कुनमना कर मैं फिर सोने का प्रयास करता हूँ, किन्तु एक बार की उचटी नींद फिर सहसा नहीं आती।

कई बार बच्चा 'मम्मी' को जगाते-जगाते थककर अपने 'पापा' को प्रातः के उस ठण्डे वातावरण में चाय के एक गर्म-गर्म प्याले के आनन्द की याद दिलाने आ पहुँचता है। वह धीरे धीरे अपने [illegible] से उतरता है और अपने ठण्डे-ठण्डे [illegible] मेरे दोनों [illegible] चूम लेता है। कभी उसके इस [illegible] पर [illegible] अपने बिस्तर पर उठ बैठता हूँ और फिर हम दोनों [illegible] मैं [illegible] हैं, [illegible] (मेरी [illegible]) [illegible]

ममी को नहीं जगा देती। लेकिन कई बार जब मैं रात को देर से सोता हूँ और इतने सवेरे नींद का टूटना मुझे अप्रिय लगता है और यह ख़याल आता है कि मैं पूरा आराम नहीं कर रहा हूँ, कहीं फिर बीमार न पड़ जाऊँ, मैं उसे झिड़क देता हूँ कि जाकर अपने बिस्तर पर सोये, तंग न करे, नहीं तो पिट जायगा और झुँझलाकर करवट बदल लेता हूँ। बच्चा सहमकर अपनी चारपाई पर चला जाता है।

किन्तु उसके अपनी चारपाई पर चले जाने और चुपचाप लेटे रहने के बावजूद (जो उसके चंचल शैशव के लिए नितान्त असम्भव है) नींद फिर जल्दी नहीं आती।

मैं खुसरोबाग रोड के एक बँगले में पिछवाड़े की ओर एक छोटी-सी कॉटेज में रहता हूँ। हमारा मकान-मालिक ७० वर्ष का उद्यमी और गोरे रंग का आयरिश बूढ़ा है, जिसकी बूढ़ी पत्नी उतनी ही निष्क्रिय, कुरूप और काली है। आधे बँगले में वह रहता है और आधे में भाई-बहन का एक अन्य अँग्रेज जोड़ा। बग़ल में एक और छोटा ऐंग्लो इण्डियन परिवार है—एक युवक, उसकी पत्नी और तीन बच्चे। युवक सदा चुप रहता है। उसकी बीवी को देखकर मेरी कल्पना में सदा ऐसी प्यारी-सी बिल्ली घूम जाती है, जो सदैव खुर्र-खुर्र करती रहती है, पर पञ्जे निकालना भी बिलकुल नहीं भूलती। परिवार विपन्न है, इसलिए यह बिल्ली सदा खुर्र-खुर्र करती है।

बुड्ढे मकान-मालिक को छोड़कर प्रायः सब लोग मौन-भाषी और शान्तिप्रिय हैं। यह बँगला लीडर रोड और ग्रैण्ड ट्रंक रोड दोनों के मध्य है। चिल्ल-पों से तनिक दूर और प्रवाद यहाँ पूर्ण शान्ति का निवास है। लेकिन मेरे जैसे कच्ची नींद वाले के लिए तो पत्तों का खड़खड़ाना भी परेशानी का कारण हो जाता है। करवट बदलकर रूठी हुई नींद को मनाने का [illegible] हूँ कि [illegible], जिसे कई बार [illegible] जाने को [illegible] के अनुसार

जोर से अखबार फेंक जाता है। बरामदे के फ़र्श से अखबार के स्पर्श की ध्वनि मेरे कानों में हथौड़े-सी पड़ती है। मैं झुंझलाकर फिर करवट बदलता हूँ। नींद हल्के-हल्के आँखों में छाने लगती है कि पिछवाड़े के अहाते में रहने वाले विश्वकर्मा बन्धुओं का देहाती अहीर अपने कर्कश स्वर में जोर-जोर से 'भइया दूध ले लो,' 'बिट्टी दूध ले लो' चिल्लाने लगता है और उसके स्वर का भाला मेरे कानों के रास्ते, सोने का प्रयास करने वाले, थके सिपाही-से मेरे दिमाग़ को कचोका देकर उठा देता है। उसके बाद लाख यत्न पर भी नींद नहीं आती। कई बार जब बच्चा सोया होता है, यही स्वर मुझे प्रातः जगा भी देता है।

*

परन्तु प्रायः जागकर भी मैं लेटा रहता हूँ। सेनोटोरियम से मैं सीख आया हूँ कि आराम करने के लिए सोना ही जरूरी नहीं, नींद न आये तो चुपचाप लेटे रहना चाहिए। लेटे-लेटे कई बार झपकी आ जाती है और कई बार दिमाग़ [illegible] और सुख-सपनों में खो जाता है, पर [illegible] नों के हल्के-फुल्के बादलों में उड़ता [illegible] भूलभुलैया में खो जाता है तो मैं हड़बड़ाकर उठ बैठता हूँ।

[illegible] उठ बैठने के बदले मैं लेटा भी क्यों न रहूँ, [illegible] का न आना मेरा सारा दिन खराब कर [illegible] पर भी सुबह दस बजे से शरीर पर कुछ [illegible] आ जाता है और जब तक मैं एक-दो घण्टे सो नहीं [illegible]!

[illegible] आती है, जब मैं रात को [illegible]

था। लाहौर में था तो लारेन्स गार्डन घूमने जाता था और दिल्ली में था तो तीस हजारी की रिज्ज (Ridge) पर। मुझे अच्छी तरह याद है कि सर्दियों के दिनों में जब हम (मैं, भाई साहब और सोमनाथ-लाजपत राय एण्ड सन्ज के प्रोप्राइटर) प्रातः पाँच-साढ़े-पाँच बजे सैर को जाते थे तो कई बार शुक्लपक्ष की ज्योत्स्ना लारेन्स बाग के पेड़-पौधों और सड़कों पर फैली होती थी। भाई साहब ठण्डे पानी से नहाकर सैर को जाते थे। मैं आकर तेल की मालिश करता था, थोड़ी-सी कसरत करता, सदैव ठण्डे पानी से नहाता और दही की लस्सी का हाथ भर लम्बा गिलास पीकर काम में जुट जाता। कभी दस-ग्यारह बजे एक-आध घण्टे के लिए सो जाता, नहीं तो दिन भर और प्रायः आधी-आधी रात तक अनवरत काम करता और मुझे कभी थकान महसूस न होती....लॉ कालेज के दिनों की याद आती है, जब मैं अठारह-बीस घण्टे की औसत से पढ़ता था और जरा न थकता था....वन्देमातरम् के दिनों की याद आती है, जब समाचार-पत्र के दफ्तर में बारह-तेरह घण्टे काम करने पर भी मैं साहित्य-लेखन और सांझ की सैर के लिए समय निकाल लेता था और थकता न था। आज जब मित्र मुझे सुबह देर से उठते देखकर प्रातः की सैर के गुण बताते हैं, तब मुझे हँसी आ जाती है।

*

चाय का प्याला पीने के बाद, कई बार जब नींद खुल जाती है तो चाय पीने के पहले, मैं समाचार-पत्र पढ़ता हूँ। यदि उन दिनों क्रिकेट की कोई टीम विदेश से आयी हो तो अखबार पढ़ने की उत्सुकता और भी बढ़ जाती है। मैं सबसे पहले स्पोर्ट्स का पृष्ठ देखता हूँ, फिर कोई दूसरी खबर। जीवन में ऐसे दिनों की भी कमी नहीं, जब हफ्तों समाचार-पत्र पढ़ने की सुविधा [illegible] नहीं मिली। लेकिन बीमारी के बाद से [illegible] कम

है। चाय पीकर मैं नित्यकर्म से निवृत्त होता हूँ और फिर प्रायः रोज स्नान-पर के बाहर का दरवाजा खोल, सामने लगी इश्कपेचा की बेलों के पास जा खड़ा होता हूँ। पहली बरसात में मैंने कॉटेज के सामने अपने अहाते को घेरती हुई मेंहदी की बाड़, बैजन्ती, गुलाब, गेन्दा और कॉक्सकाम्ब के पौधे लगाये हैं। दायीं ओर की कोठी से पर्दा करने के लिए बाथरूम के बाहर दीवार के साथ इश्कपेचा की बेलें लगायी हैं। मैं रोज नन्हीं-नन्हीं कोंपलों को फूटते बढ़ते और दीवार के साथ लगी हुई रस्सियों से लिपटते हुए देखता हूँ। बेलें अभी बहुत नहीं बढ़ीं। रस्सी पर ज़रा सा दबाव पड़ने से टूट कर धरती पर आ गिरती हैं। मैं फिर बाँध देता हूँ। रात भर में कितनी बढ़ी हैं, यह देखता हूँ और उन दिनों की कल्पना करता हूँ जब दायीं ओर ऊपर लगे तारों से लिपटकर ये गहरा हरा पर्दा बना देंगी और ग्रामोफ़ोन के भोंपू जैसे नन्हें-नन्हें जामुनी, गुलाबी फूल उस पर्दे पर फैल जायँगे। इन बेलों को देखते-देखते मैं कभी-कभी आतिश की यह पंक्ति गुनगुनाने लगता हूँ।

इश्कपेचे पर मुझे होता है शक जंजीर का।

और मेरी कल्पना के सम्मुख लम्बी-लम्बी, पतली-पतली, गोरी-गोरी बाँहें कौंध जाती हैं, जो सहारे के लिए छटपटा रही हैं और जब सहारा पा लेती हैं तो उसे ऐसे बाँध लेती हैं कि वह स्वयं उन्हीं के सहारे जीने को विवश हो जाता है।

बेलों को सँवारने के बाद मैं कभी-कभी बगीचे की देख-भाल करता हूँ। कौशल्या (मेरी पत्नी) के पास समय नहीं। घर को टिप-टाप रखने, बच्चे को समय पर स्कूल भेजने और किसी-न-किसी प्रकार प्रकाशन का काम [illegible] मेरे बड़े लड़के को [illegible] का शौक है, सजाने-संवारने का नहीं। [illegible] बच्चा. . . . [illegible] कैसे का कोई खड़ा

हुआ पत्ता तोड़ता हूँ तो वह मेरे अनुकरण में सारे-का-सारा पौधा ही उखाड़ देता है। मैं गमलों में ज़रा-ज़रा पानी देता हूँ तो वह एक ही गमले को गच्च कर देता है कि पौधा मरने को हो जाता है और मैं अकेला ही इस बगीचे को सजाता-सँवारता हूँ।

कई बार जब मैं इस तन्मयता से बगीचा सँवारता हूँ तो उन दिनों की कल्पना करने लगता हूँ जब मेंहदी की बाड़ कन्धे बराबर हो जायगी और बरामदे के आगे लगे खलीफ़े के लाल-लाल, हरे-हरे, बड़े-बड़े पत्तों वाले, चारों पौधे अपने कद को पहुँचकर सहज ही आँखों को आकर्षित करने लगेंगे और दरवाजे के आगे लगी मधुमालती की दोनों बेलें छत को छू लेंगी और लाल-लाल, सफ़ेद-सफ़ेद फूलों के गुच्छे लटकने लगेंगे; मैं कभी-कभी इस बेल की छाया में आ खड़ा हूँगा और कोई फूल तोड़कर उसका रस चूस लूँगा और मुर्गे की बड़ी-बड़ी पीली और लाल कलँगियों ऐसे कॉक्स-कॉम्ब और गेन्दे के बड़े-बड़े शतदल पीले-पीले फूल खिल उठेंगे और उन्नाबी, गुलाबी, पीले और श्वेत बैजन्ती के गुच्छे लहलहायेंगे और. . . .परन्तु तभी मेरा मन आशंका से संत्रस्त हो उठता है. . . .मैंने जब-जब घर बनाया है, उजड़ गया है। कभी मैंने लिखा था —

> उसे बिजली ने ताका जूंही मैंने
> नशेमन के लिए एक शाख ताकी।

लेकिन गत वर्षों के अनुभव से मैंने पाया है कि :—

> बना चुकता जब मैं आशियाना।
> फ़लक हँसता है बिजली की लपक में।

और मैं सोचता हूँ कि फ़लक (नियति) मेरी इस नयी कल्पना को साकार भी होने देगा. . . .[illegible] आ

बैठता हूँ। किस्मत का काम बिजलियाँ गिराना है तो इन्सान का काम जले हुए आशियाने पर फिर नया आशियाना बनाना है—और पहले से बेहतर आशियाना बनाना है।

*

मेरे काम की गतिविधि निश्चित नहीं है। कई बार बड़े ध्यान और एकाग्रता से कुछ लिखने लगता हूँ कि दूसरे कमरे से पत्नी आवाज देती है कि जरा एक मिनट के लिए उसकी बात सुन लूँ। कई बार झुँझलाता हुआ जाता हूँ और कई बार जब नहीं जाता तो बैठा-बैठा झुँझलाने लगता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरा न जाना, मेरी पत्नी को सख्त नागवार गुजरता है और तब वह कितना भी महत्वपूर्ण काम क्यों न हो, मुझे कभी न बुलाने की गुरु-गम्भीर कसमें खाने लगती है और मन-ही-मन यह सब सोचकर न जाने पर भी, मैं मेज पर बैठा झुँझलाता रहता हूँ।

यदि पत्नी नहीं बुलाती तो बच्चा आ जाता है और बड़े विचित्र आदेश देने लगता है. . . .रबड़ का बड़ा-सा गेंद और पतला-सा तागा ले आता है और चाहता है कि उसे बाँध दिया जाय। तागा है कि उसे किसी भी तरह बाँधो, झट गेंद पर से फिसल जाता है और बच्चा है कि समझ नहीं पाता, जब उसने एक बार गेंद में रबड़ का तार लगा देखा था तो इसमें क्यों नहीं लग पाता. . . .गुब्बारा ले आता है कि उसकी हवा निकाल दी जाय। हवा निकाल दी जाती है तो पाँच मिनट बाद फिर भरने का आदेश होता है. . . .तार प्रायः मेरी झुँझलाहट पर टूटता है।

फिर कई बार जब पत्नी और बच्चा नहीं आते तो प्रायः मित्र आ जाते हैं और मेरे लिए अपरिचित हों अथवा परिचित, इन दोस्तों की मुलाकात

मसीहा और खिजर की मुलाकात से बेहतर है।[1] मित्र बनाने की कला के लेखक अमरीका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'डेल कार्नेगी' ने कहा है कि अपना नाम और अपनी आवाज सबको प्यारी लगती है। सबके बारे में तो मैं कह नहीं सकता---ऐसे लोग भी हैं जिनको न केवल अपना, वरन् दूसरों का नाम भी प्रिय है और जो दूसरों की बात मौन रूप से सुन लेना भी जानते हैं, परन्तु अपने बारे में मैं कह सकता हूँ कि मुझे बातें करने का रोग है। कितना भी अहम काम क्यों न हाथ में हो, उसे भूलकर बातें करने लगता हूँ और काम को भूल जाता हूँ। प्रायः मेरी बातों में लोग अपना काम भी भूल जाते हैं, लेकिन कई बार जब किसी को अपना काम याद रहता है और वह मेरी व्यस्तता की याद दिलाता हुआ उठने लगता है तो मैं उसे फिर बैठा लेता हूँ।

मित्र के जाने के बाद प्रायः मुझे पत्नी की डाँट सुननी पड़ती है। परिणाम यह होता है कि कई बार इस सतर्कता में कि मैं बातों में न लग जाऊँ खासी अशिष्टता से अपने मिलने वाले से छुट्टी पा लेता हूँ और फिर अपने इस बेतुकेपन पर कुढ़ता रहता हूँ। झींखता हूँ कि क्यों मुझे ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं कि घर की चीं-पीं और समय-कुसमय आने वालों से मुक्ति पाकर साहित्य-सृजन कर सकूँ। ऐसे समस्त अवसरों पर मैं किसी एकान्त कुञ्ज की आकांक्षा करता हूँ। लेकिन मैं यह भली-भाँति जानता हूँ कि यह आकांक्षा भी आत्म-वंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं। जब घर में कोई नहीं होता और मैं काम करने के लिए स्वतन्त्र होता हूँ तो प्रायः काम करते-करते बीच ही से उठकर पड़ोस के किसी नौकर, मकान-मालिक, किरायेदार अथवा अहीर ही से बातों में निमग्न हो जाता हूँ। किसी से बातें नहीं करता तो

---

1. ऐ 'जौक' किसी दोस्ते देरीना का मिलना, बेहतर है मुलाकाते मसीहा-ओ-खिजर से।

लिखते-लिखते पढ़ने लगता हूँ और मेरा लिखना धरा-का-धरा रह जाता है। वास्तव में ज़रूरत ऐसी जगह की है, जिसमें जब चाहें अकेले बने रहें और जब चाहें दुकेले —— मौन का अंग भी बन सकें और शोर का भी।

*

जब से बीमार हुआ हूँ, दोपहर में खाना खाने के बाद घण्टे-दो-घण्टे ज़रूर लेट जाता हूँ। प्रायः उठता हूँ तो चाय का समय हो जाता है। चाय पीकर फिर मेज़ पर आ बैठता हूँ और यदि कोई विघ्न-बाधा न पड़े तो नौ साढ़े नौ बजे तक लिखता या लिखाता रहता हूँ। रात को देर तक जागना अब बन्द हो गया है। यह अच्छा भी हुआ और बुरा भी। अच्छा यों कि मेरा अनियमित जीवन, नियम से रहना सीखने लगा है और बुरा यों कि साढ़े नौ के बाद जब बीवी-बच्चे छोड़ पड़ोसी भी सो जायें और न कोई बात सुनने वाला हो न सुनाने वाला, तो जो एकाग्रता प्राप्त होती है, वह दिन को सम्भव नहीं, परन्तु परिस्थितियाँ जैसी भी हों, [illegible] ऐसी बलवती है कि मैं कुछ-न-कुछ लिखते रहने का समय निकाल ही लेता हूँ। वर्तमान परिस्थितियों में भी अपने स्वभाव की समस्त त्रुटियों के साथ ऐसा कर पाऊँगा, इसका मुझे पूरा विश्वास है।

*

दिन भर काम करने के बाद मैं फिर अपनी कॉटेज के सामने चारपाई पर आ लेटता हूँ और अचानक मेरी दृष्टि इश्कपेचा की बेल पर जा टिकती है और मुझे खयाल आता है कि जिन्दगी इश्कपेचा की बेल है और हम उसके फूल हैं, [illegible] और हम इससे बँधे हैं और कभी [illegible] और जिन्दगी हमसे बँधी है और कभी. . . . .लेकिन मेरा बच्चा या मेरी [illegible]

में देर तक नहीं रुके रहने देते और इश्कपेचा की लम्बी-लम्बी घेरती बाँहें मेरी आँखों के सामने आ जाती हैं जो सहारा चाहती हैं और सहारा देती भी हैं और मैं गुनगुना उठता हूँ —

इश्कपेचे पर मुझे होता है शक जंजीर का

लेकिन पत्नी कहती है, 'मारिए गोली इश्कपेचा को,' चलिए जरा हाईकोर्ट तक घूम आयें।'

और मैं उठकर उसके साथ सैर को चल देता हूँ।

उस्तरा और मूंछें

कहते हैं कि जब सियार की मौत आती है तो वह शहर की ओर भागता है। सामाजिक कार्यकर्ता का सिर जब खुजलाता है तो उसे नाटक खेलने की सूझती है। मैं उन दिनों अपने नगर की एक धार्मिक-सामाजिक संस्था का नया-नया उपमन्त्री नियुक्त हुआ था कि मुझे भी कुछ ऐसी ही सूझी।

मैं उन दिनों जिस कॉलेज में पढ़ता था, वह आर्य समाज के उस पक्ष से सम्बन्धित था जो प्रत्येक ललित कला को वैदिक युग का विरोधी समझता था। नयी-नयी उमर, नया-नया जोश और कुछ कर गुज़रने की लगन! लेकिन कॉलेज में न कन्सर्ट हो, न नाटक, न कवि सम्मेलन! लड़कों को पूर्ण ब्रह्मचारी बनाना अधिकारियों का आदर्श, इसलिए कोई युवक कुछ कर गुज़रना चाहे तो डण्ड पेल सकता था, मुगदर हिला सकता था, बिना कटवाये, बिना तेल साबुन लगाये बाल बढ़ा सकता था, मोटे-झोटे कपड़े पहन, ब्रह्मचर्य व्रत ले, प्रातः साढ़े चार बजे उठकर अपने आलसी साथियों को बरबस जगाकर, प्रभात फेरी लगाते हुए, स्वामी दयानन्द का गुणगान करने वाले भजन कनसुरी आवाज़ में [illegible] [illegible] की नींद

हराम कर सकता था, लेकिन जिसे नाटक, कविता अथवा नृत्यादि का शौक हो उसके लिए अपने कॉलेज और समाज के बाहर हाथ-पैर मारना जरूरी था। दुर्भाग्य से मैं उन्हीं मन्द-भाग्यों में से एक था।

कुछ कविता भी करता था। नाटक बड़े अच्छे लगते। न्यू एलफ्रेड कम्पनी तथा मास्टर रहमत की अपनी कम्पनी के एक-दो नाटक लड़कपन में देखे थे। सिनेमाघर शहर में नया-नया खुला था। उसके प्रोप्राइटर को गाँठ लिया था और हर फ़िल्म देख आता था। कॉलेज के उस रूखे वातावरण में कैसे मन लगे और मन था कि कुछ कर गुजरने को बेकरार था, सो एक शाम जाकर शहर के महावीर दल का सदस्य बन गया।

उन दिनों पञ्जाब के शहरों में दल की बड़ी धूम थी। हमारे धर्म-शिक्षा के प्रोफ़ेसर तो उसे उपेक्षा से 'बन्दर दल' कहते थे, पर क्योंकि उन्हें बुरा लगता था, इसलिए मुझे अच्छा लगता था और शायद अन्तर-मन में उन्हें चिढ़ाने के विचार ही से मैं उस दल का सदस्य हो गया था। अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि केवल यही बात न थी। दल की सरगर्मियाँ विस्तृत थीं—शहर में जितने मेले होते, उनमें दल के सेवक सेवार्थ ड्यूटी देते; रामलीला की शोभायात्राओं में जुलूस के आगे सैनिकों की तरह पाँव-से-पाँव मिलाते चलते और रामलीला के मैदान में रामलीला की व्यवस्था करते। वार्षिक उत्सवों और धार्मिक कथाओं में बड़े-बड़े पंखे झलते और सज्जनों और देवियों को पानी पिलाते और जन्माष्टमी के अवसर पर एक नाटक खेलते। मैं स्कूल के दिनों में स्काउट रहा था। मुझे महावीर दल की वर्दी और कवायद और जुलूसों के आगे सैनिकों की चाल से चलना बड़ा भाता था। फिर महावीर दल का सदस्य बनकर शहर की अधिकांश सरगर्मियों में, बिना टिकट, बिना कष्ट, भाग लिया जा सकता था। मैं सदस्य बना तो महावीर दल ने एक कवि सम्मेलन का भी आयोजन कर दिया।

तकलीफ़देह बात एक ही थी। दल के अधिकांश सदस्य अनपढ़े या अधपढ़े दुकानदार थे। मन्त्री पढ़े-लिखे और एक बैंक में एकाउण्टेण्ट थे। मैट्रिक थे और मैं उन दिनों थर्ड इयर में पढ़ता था। उसूलन मुझे मन्त्री बनना चाहिए था, लेकिन वे पुराने आदमी थे, महावीर दल ही के नहीं सनातन धर्म सभा के भी मन्त्री थे। हाँ उन्होंने यह किया कि जब मैं दल का सदस्य बना और मैंने ज़ोर दिया कि मुझसे कुछ महत्वपूर्ण सेवाएँ ली जायँ तो उन्होंने मुझे उपमन्त्री बना दिया और कवि सम्मेलन और नाटक का आयोजन मुझे सौंप दिया।

दल के पास अपने पर्दे थे, स्वयंसेवकों की कमी न थी, बल्कि नाटकों के दिनों में स्वयंसेवक बढ़ जाते थे। थियेटर हाल तो नहीं था, पर सभा का (कि दल जिसके अधीन था) चारदीवारी से घिरा आहाता था, जिसमें स्वयंसेवक चौबीस घण्टों में तख्तों और बाँसों की सहायता से रंगमंच बनाकर उसे पर्दों से लैस कर देते थे। मैं भी दल के दो-एक नाटक पहले देख चुका था। दल के नाटकों का आयोजन मुझे बड़ा आसान लगता था — मुफ़्त का नाटक देखना और ऊपर से वाहवाही लूटना। इसलिए जब मुझे जन्माष्टमी के अवसर पर 'अभिमन्यु-वध' खेलने का आदेश मिला तो मैं बड़ा प्रसन्न हुआ।

इच्छा तो मेरी यही थी कि मैं स्वयं एक धार्मिक नाटक लिखूँ और वह दल के मंच पर खेला जाय, पर कई बार कोशिश करने पर भी जब मैं नाटक लिखने में सफल न हुआ तो कई कागज और कापियाँ फाड़ने के बाद मैंने यही तय किया कि राधेश्याम कथावाचक का नाटक 'वीर अभिमन्यु' लेकर उसके संशोधन-परिवर्धन पर ही सन्तोष कर लिया जाय।

किन्तु पहली कठिनाई यहीं पेश आयी। दल के सदस्य, जैसा कि मैंने पहले कहा लगभग अनपढ़ थे। 'वीर अभिमन्यु' नाटक उनके विचार में उनका धार्मिक ग्रन्थ था और उसकी एक लाइन भी काटना पाप था। लेकिन

मन्त्री पढ़े-लिखे थे, उनको मैंने समझाया कि नाटक के आरम्भ ही में नाटककार ने अँग्रेज़ों की दासता का सबूत दिया है। नटी कहती है — 'यदि हमारे वीर बलवान का गुण-गान सुनकर श्रोताजनों में वीर रस झलक आये और यह रसिक समाज वीर समाज होकर सरकार की ओर से ब्रिटेन के शत्रुओं का मुँह तोड़ने के लिए बैटलफ़ील्ड में पहुँच जाय. . आदि. . आदि' ये वाक्य आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाले नगरवासियों को अखरेंगे। दूसरे एमेचर रंगमंच की आवश्यकताओं को देखते हुए कुछ नाच-गाने और दृश्य काटने ज़रूरी हैं। यद्यपि एकाउण्टेंण्ट महोदय ब्रिटेन सरकार वाली लाइन को नापसन्द न करते थे, पर उन्हें विरोधी संस्था 'सेवा समिति' का भय था जिसमें बहुत से कांग्रेसी थे। इसलिए उन्होंने मेरे परामर्शानुसार नट-नटी का सारा प्रकरण ही काट दिया और नाटक में भाग लेने की इच्छा रखने वालों की एक सभा बुलाकर यह समझा दिया कि उपमन्त्री नाटक में जो काट-छाँट करेगा, उसे वे स्वयं देखेंगे और पास करेंगे तब नाटक होगा। नाटक का छोटा करना ज़रूरी है ताकि दो-तीन बजे तक समाप्त हो जाय, पूरा किया जायगा तो पाँच बज जायँगे।

मैंने नाटक को अच्छी तरह पढ़ा और न केवल उसमें काट-छाँट की, बल्कि अपने उस जोश में कुछ सम्वाद भी बढ़ाये और दो-चार जगह कुछ कविताएँ काटकर अपनी ओर से जोड़ दीं। नाम तो राधेश्याम ही का रहा, पर मेरे अहं एवं शौक की तुष्टि हो गयी।

यहाँ तक तो कोई वैसी कठिनाई पेश न आयी, लेकिन जब भूमिकाओं के बाँटने का सवाल आया तो लगा जैसे मैंने भिड़ के छत्ते को छेड़ दिया हो। अभिमन्यु की भूमिका में कौन उतरे—इसी बात को लेकर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दल की नाटक मण्डली में दो अभिनेता अभिमन्यु का पार्ट करना चाहते थे—दोनों दुकानदार थे, एक [illegible] का, दूसरा लकड़ी-कोयले का और दोनों की उमर पच्चीस से तीस वर्ष की थी। जब कि

वीर अभिमन्यु केवल पन्द्रह-सोलह का था। बहुमत बजाज के पक्ष में था, उसका नाम था---- निक्का। यह न केवल दल का सरगर्म सदस्य था, बल्कि दल के बैण्ड का संचालक भी था। बाँसुरी बजाने में उसका शहर भर में कोई सानी नहीं था और वह पहले भी दो बार वीर अभिमन्यु की भूमिका में उतर चुका था। था तो नाटा, नाक भी उसकी चपटी थी और शरीर भी दोहरा था, पर उसके बाल घुँघराले थे और रंगमंच पर वह जोश से सिर हिलाता तो बड़ा अच्छा लगता। मेरी एक ही आपत्ति थी (नाटक खेलने का व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण जो मुझे बड़ी और आधार-भूत लगती थी) वह यह कि उसकी उमर अभिमन्यु के नहीं, उसके पिता अर्जुन के बराबर थी। आज जब मैं देखता हूँ कि मँजे हुए अभिनेता उन नायकों की भूमिकाओं में अभिनय करते हैं, जहाँ उनका पोता होना चाहिए और दर्शकों को इसमें तनिक भी असंगति नहीं लगती तो मुझे अपने उस समय के अनुभवहीन हठ पर हँसी आती है।

बहरहाल, जब मैंने दोनों के स्थान पर अपने एक सहपाठी का नाम प्रस्तावित किया तो वह शोर मचा कि खुदा की पनाह। दल के सदस्य दुकानें बढ़ा, खाना-वाना खाकर नौ-साढ़े-नौ बजे तक मीटिंग में आये थे तो साढ़े बारह तक डटे हुए थे और भूमिकाओं के वितरण पर झगड़ा हो रहा था। तब बड़ी भूमिकाओं को छोड़कर उस रात छोटी भूमिकाएँ बाँट दी गयीं और बड़ी भूमिकाओं का निर्णय दूसरे दिन पर छोड़ दिया गया।

दूसरे दिन मैं कॉलिज से आ रहा था कि अमाम नासरुद्दीन के चौक में, जहाँ निक्का की बजाजी की दुकान थी, उसने मुझे अपने चन्द-एक गुण्डे साथियों के साथ घेर लिया और धमकी दी कि यदि मैंने उसके अभिमन्यु बनने में किसी तरह की अड़चन लगायी तो उससे बुरा कोई न होगा। और भी कई धमकियाँ उसने मुझे दीं और बड़ी मुश्किल से मेरा रास्ता छोड़ा।

निक्का वीर अभिमन्यु बना तो कोयलाफ़रोश जयद्रथ बनाया गया। एक तीसरे साहब थे जो नगर के एक सेठ घराने से सम्बन्ध रखते थे, लेकिन एक सम्वाद तक वे शुद्ध न बोल सकते थे, उन्हें प्रोड्यूसर का पद दिया गया और किसी तरह रिहर्सल आरम्भ हुई।

उन रिहर्सलों में क्या-क्या हुआ, कैसे दिलचस्प और कष्टप्रद अनुभव मैंने सँजोये, कितने वाद-विवाद, मान-मनौवल, झगड़े-झाँसे हुए, उसका ब्योरा देने लगूँ तो न जाने कितना समय दरकार हो, लेकिन 'वीर अभिमन्यु' खेले जाने के सम्बन्ध में एक किस्सा बड़ा दिलचस्प है जो मुझे प्रायः याद आता है।

*

मेरा वह मित्र, जिसका नाम मैंने अभिमन्यु की भूमिका के लिए तजवीज किया था, नाटक में काम करने को बड़ा उत्सुक था। था भी सुन्दर, सलोना, कण्ठ में उसके अमृत था। गाता था तो सुधा बरसाता था। जब मैं उसे अभिमन्यु का पार्ट दिलाने में सफल न हुआ और पिटते-पिटते बचा तो मैंने उससे कहा कि वह चाहे तो उसे उत्तरा की भूमिका दिला सकता हूँ। अभी उसका निर्णय नहीं हुआ। मेरे मित्र को स्त्री-भूमिका में उतरना उतना रुचिकर न था, लेकिन मैंने कला और उसकी साधना पर घण्टों लेक्चर पिलाकर उसे राजी किया। उसने अपना पार्ट भी खूब याद कर लिया। ड्रेस रिहर्सल में अभिमन्यु और उत्तरा का पार्ट ही सबसे अच्छा उतरा। पहले अंक के अन्त में निक्का ने जब अभिमन्यु की भूमिका में मरने से पहले धोखे से कौरवों के चंगुल में फँसकर, अपना वह लम्बा सम्वाद— 'थो थू है, धिक्कार है, सिंह के बच्चे को इस प्रकार धोखा देकर फाँसने वाले वधिको, तुम पर हज़ार-हज़ार फटकार है!'—से आरम्भ किया तो अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसने देखने वालों की आँखों को आर्द्र भी कर दिया और

उनका खून भी खौला दिया और मेरे मित्र ने एक ही दृश्य बाद जब विधवा विरहिनी उत्तरा के रूप में अपना वह सम्वाद अदा किया—'हाँ मैं सचमुच उन्मादिनी हो गयी हूँ, विरहणी नहीं, वियोगिनी नहीं विषादिनी हो गयी हूँ —

> सती वही जिसका रहे साजन से अनुराग,
> धन्य वही संसार में जिसका अटल सुहाग !'

तो लोग अश-अश कर उठे। लेकिन नाटक के दिन जब मेरा मित्र पहले अंक के पाँचवें दृश्य में, जहाँ अभिमन्यु रण को जाने से पहले अपनी पत्नी से मिलने आता है—अपना पार्ट करके आया तो रंगमंच के पीछे कोलाहल-सा उठ खड़ा हुआ और दूसरे क्षण मेरे मित्र के पिता क्रोध से लाल आँखें लिये हुए हमारे धर्म-शिक्षा के प्रोफ़ेसर के साथ स्वयंसेवकों से लड़ते-भिड़ते मित्र की बाँह थाम, उन्हीं कपड़ों में उसे ग्रीन रूम से ले गये। उनके क्रोध का मुख्य कारण यह न था कि उसने नाटक में पार्ट किया था या स्त्री भूमिका में पार्ट किया था, बल्कि यह कि उसने मूर्ति-पूजक सनातन धर्मियों के नाटक में पार्ट करके उनका और उनके आर्य धर्म का अपमान किया था।

मैं समझ गया कि यह आग हमारे धर्म-शिक्षा के प्रोफ़ेसर ने लगायी है और उन्हीं ने मित्र के पिता को बहकाया है, लेकिन यह समझ मेरे किसी काम न आयी, क्योंकि मेरे ही नहीं, सभी के हाथ-पाँव फूल गये। दूसरा कोई ऐसा अभिनेता न था, जिसे पार्ट याद हो या जो उत्तरा की भूमिका में उतर सके। हमारे मन्त्री महोदय ने ग्रीन-रूम में आकर सनातन धर्म पर आयी हुई इस विपत्ति में दल की सहायता करने के लिए बड़ा ओजपूर्ण भाषण दिया, पर परिणाम कुछ न निकला। कोई [illegible] भूमिका में उतरने को तैयार न हुआ। [illegible] नाटक के निर्देशक हो, तुम्हें पार्ट याद होगा, तुम्हीं उतरो।

पार्ट मुझे याद था, मैं उस भूमिका में उतरने को भी तैयार हो गया। मेरा क़द-बुत भी मित्र जितना था। सौभाग्य से उस दृश्य के बाद उत्तरा विधवा वेष ही में आती है। सो केवल श्वेत साड़ी दरकार थी। पहचाना न जाऊँ, इसलिए तय किया कि मैं घूँघट काढ़े रहूँ। लेकिन एक ही दिक़्क़त थी—तब मेरे चार्ली-चैपलिन जैसी छोटी-छोटी मूँछें थीं। उन दिनों मुझे चार्ली के फ़िल्म बड़े पसन्द थे, मैंने कॉलेज में प्रवेश करते ही उसकी-सी मूँछें रख ली थीं और यदा-कदा उसकी नक़ल भी किया करता था।

आधी रात में नाई तो कोई क्या मिलता जो मेरी मूँछें साफ़ कर देता। मन्त्री महोदय ने एक स्वयंसेवक को अपने और एक को मेरे घर भेजा कि हजामत का सामान लाये और मैं स्त्री-वेष धारण करने में तल्लीन हो गया।

विग पहन, छातियाँ लगा, साड़ी में शरीर को आवृत कर, मैं रेज़र की प्रतीक्षा में आइने के आगे बैठा था कि पहला अंक समाप्त हो गया। अन्तराल १५ मिनट का था, पर हम आधे घण्टे तक प्रतीक्षा करते रहे और स्वयंसेवक न आये। आख़िर जब झुँझलाकर मैंने पर्दा उठाने का आदेश दिया तो दोनों हाँफते हुए वापस आये। मन्त्री महोदय के घर ताला लगा हुआ था। उनकी पत्नी और माता वह धार्मिक नाटक देखने आयी हुई थीं और मेरा घर किसी को मिला नहीं। स्वयंसेवक कदाचित् नये ही भर्ती हुए थे।

तब यह तय हुआ कि जब मुझे घूँघट ही काढ़े रहना है, तब मूँछ हुई तो क्या और न हुई तो क्या? दूसरे अंक का प्रथम दृश्य बहुत छोटा है, झट ही मेरी बारी आ गयी। और मैं पर्दे के पीछे जाकर उत्तरा के शयन-कक्ष में पलंग पर सो गया, क्योंकि उत्तरा के दुःस्वप्न से यह दृश्य आरम्भ होता है और जब पूरे दृश्य में घूँघट काढ़े सम्वाद बोलता हुआ मैं क्लाइ-मेक्स के उस डायलाग पर आया—'हाँ मैं सचमुच उन्मादिनी हो गयी

हूं, विरहणी नहीं, वियोगिनी नहीं, विषादिनी हो गयी हूँ'---तो न जाने कैसे. . . .सखियों की भूमिका में काम करने वाले किसी लड़के ने शरारत की अथवा मैं सम्वादों में बहकर अपनी हस्ती भूल गया, मेरा घूँघट उठ गया और एक सिरे से दूसरे सिरे तक दर्शकों में एक भयानक ठहाका गूँज उठा।

*

मेरी क्या दुर्गति हुई, इसकी कल्पना की जा सकती है। मैं दूसरे दिन घर से नहीं निकला और कॉलेज से एक महीने की छुट्टी लेकर अपने पिता जी के पास बहराम चला गया।

सित्तो का पत्र और गर्म राख

'गर्म राख' मेरा तीसरा उपन्यास है जिसका कलेवर मेरे पिछले बृहद् उपन्यास 'गिरती दीवारें' से कुछ बीस-तीस पृष्ठ ही कम है।

'गर्म राख' बड़ा उपन्यास बन गया है, पर मैं इतना बड़ा उपन्यास लिखना न चाहता था। 'गिरती दीवारें' की बात दूसरी है। सात भागों में एक बहुत बड़ा उपन्यास लिखने की मेरी इच्छा थी। 'गिरती दीवारें' उस बृहत्तर उपन्यास का केवल एक भाग ही बन पाया है। 'गर्म राख' के सिलसिले में कोई ऐसी आकांक्षा मन में न थी। कैनवस भी 'गिरती दीवारें' की अपेक्षा कहीं छोटा सामने था और अढ़ाई-तीन सौ पृष्ठ में उपन्यास की कहानी चुक जाय, ऐसी इच्छा थी। इसी कारण उसे धारावाहिक रूप से एक स्थानीय मासिक में देना भी शुरू किया था। किन्तु जब साल भर तक वह उपन्यास चला तो लगा कि जो आधारभूत समस्याएँ उसमें अपने आप उठ गयीं, उनके साथ न्याय करने के लिए अढ़ाई-तीन सौ पृष्ठ की परिधि कम होगी।

यों तो 'गर्म राख' में उठायी गयी समस्याओं से कहीं बड़ी समस्याएँ और उसमें निहित कहानी से कहीं बड़ी कहानी डेढ़-दो सौ पृष्ठों में सुलझाई

जा सकती है, किन्तु हर लेखक की अपनी शैली, अपनी रुचि और अपनी सीमाएँ होती हैं। उपन्यास को मैं उपन्यास ही देखना चाहता हूँ, कहानी नहीं। कहानी में जहाँ मैं कथानक को महत्व देता हूँ, वहाँ उपन्यास में मुझे कथानक के बदले पात्रों का चरित्र-चित्रण, उनके मन में क्षण-क्षण उठते-बदलते विचार, घटनाओं का घात-प्रतिघात और ज़िन्दगी के असंख्य छोटे-छोटे ब्योरों का चित्रण भाता है। कहानी जहाँ मेरे निकट जीवन के नद से काटा गया छोटा-सा बरहा है, वहाँ उपन्यास जीवन की पूरी गहमागहमी को अपने अंक में संजोये ठाठें मारता हुआ महानद है। बरहे को हम जैसे चाहें मोड़ सकते हैं, फूलों के छोटे-छोटे पौधे उसके किनारे-किनारे लगा सकते हैं, रंगीन मछलियाँ उसके पानी में छोड़ सकते हैं और उसे किसी कमल के तालाब में ले जाकर खत्म कर सकते हैं। महानद हमारे ऐसे नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करता। उसकी लहरें बरहे की नन्हीं-नन्हीं लहरों जैसी यकसाँ नहीं होतीं, उसकी गति भी अपनी ही गति होती है और उसकी लहरों की विभिन्नता और उसकी गहोर्मियों के आकर्षक नर्तन में ही उसकी दर्शनीयता रहती है। मैं उपन्यास में वैसी ही विभिन्नता और प्रवाह चाहता हूँ। उपन्यास पर मैं नियन्त्रण का कायल हूँ, पर वैसे ही नियन्त्रण का, जो महानद को नद चाहे बना दे, पर बहे अथवा बरहे में परिवर्तित न कर दे।

'गर्म राख' को नौ भागों में 'गिरती दीवारें' जैसा महानद बनाने की मेरी इच्छा नहीं थी, तो भी उसमें उस नद की कुछ-न-कुछ विभिन्नता, प्रवाह और [illegible] आ जाना स्वाभाविक था। [illegible] साठ पृष्ठ का [illegible] लिया। यदि मैं [illegible] न जाता, अपने पाठकों और मित्रों की यह [illegible] खत्म हो रहा है, मुझे परेशान न कर देती और [illegible] र न होता [illegible] लिए कागज लेकर [illegible] पुस्तकों में लगाया

और वह प्रकाशक मेरी अपनी पत्नी ही न होती (जिसका आतंक साधारण प्रकाशक से कहीं ज्यादा है) तो जाने यह उपन्यास और कितनी भूमि घेर लेता और न जाने चार के बदले आठ ही वर्षों में समाप्त होता।

*

गर्म राख मैंने १९४८ में आरम्भ किया। उस वर्ष में लम्बी बीमारी से मुक्ति पाकर पंचगनी से इलाहाबाद आया था। जगह की तंगी थी। मेरे साथ मेरी पत्नी और बच्चा भी था। काफ़ी परेशानी के बाद सितम्बर में संगम-भवन रसूलाबाद में रहने की व्यवस्था हो गयी। आयोजकों का अनुरोध था कि मैं वहाँ कम-से-कम साल भर ठहरूँ। रहने की व्यवस्था वहाँ हो गयी और खाने-पीने का खर्च यू० पी० सरकार के अनुदान से चल जाता था। साल भर तक दो सौ रुपया मासिक मुझे मिलने को था। तब मैंने सोचा कि साल भर में मैं एक उपन्यास लिख डालूँ और 'गर्म राख' आरम्भ कर दिया।

पहले पहल मैं उपन्यास का ठीक पैटर्न नहीं बना पाया। यह मैंने तय कर लिया था कि उपन्यास छोटा लिखूँगा, इसलिए 'गिरती दीवारें' की बुनावट से काम न चल सकता था। कोई दूसरी बुनावट मैं चाहता था। मेरे मन में एक ही पत्र के रूप में एक लम्बी कहानी अथवा लघु-उपन्यास लिखने की साध बड़े दिनों से थी। पहले पहल अपना यह उपन्यास मैंने एक पत्र ही के रूप में कुछ इस तरह आरम्भ किया :

प्रिय मित्रो

आठ वर्ष बाद तुम्हारा पत्र मिला, मैं इसका उत्तर भी दे चुका हूँ—संक्षिप्त और शिष्ट। तुम्हारे इस पत्र को पढ़कर मुझे जो झुँझलाहट हुई है, उससे विवश होकर मैं तुम्हें यह लम्बा-सा पत्र लिख रहा हूँ। मैं इसमें संक्षेप और संकोच से काम न

ले सकूँगा, क्योंकि मुझे तुमसे कुछ ऐसी बात कहनी है जो मैं शायद तुमसे कभी न कहता, यदि आठ वर्ष बाद तुम सहसा यह पत्र लिखकर श्रद्धा की उस भावना को चकनाचूर न कर देतीं, जो इस आठ वर्ष के अरसे में, अज्ञात रूप से बढ़कर प्रेम की एक सूक्ष्म-सी, प्रच्छन्न मीठी-मीठी, पर दर्द-भरी-सी भावना में परिणत हो रही थी।

सित्तो, तुम नहीं जानतीं (जान भी कैसे सकती हो, जब इन आठ वर्षों में हमारे बीच एक पत्र का भी आदान-प्रदान नहीं हुआ) कि तुम्हारे चले जाने के बाद एक दिन मैं अचानक कवि बन गया। उस तरुण की तरह जिसके अन्तर में, रात के धुँधलकों में से उगती हुई सुबह की तरह, प्रेम का आलोक अंकुरित हो रहा हो, मैं भी कुछ विचित्र-सी, अर्धनिद्रित-सी, स्वप्निल-सी, नशीली, सरूर-भरी-सी दुनिया में रहने लगा। मेरी यह बात सुनकर तुम्हें बिलकुल विश्वास न आयेगा। इन पंक्तियों को पढ़ते समय तुम्हारे ओठों पर अनायास फैल उठने वाली विद्रूप की रेखा को मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। लेकिन यह सच है कि तुम्हारी याद को लेकर मैंने कई कविताएँ लिखीं। मैं जानता हूँ, मैं कवि नहीं हूँ—कल्पना के संसार में रहने के बदले यथार्थ की दुनिया का वासी हूँ। पत्रकारिता, राजनीति और फिर फ़िल्म के इस कूड़े और कल्पना के संसार की स्वच्छता में आकाश-पाताल का अंतर है, परन्तु इन आठ वर्षों में ऐसा समय भी आया जब मेरी सुधि समुद्र पार के उन अनजाने रास्तों में तुम्हारा पीछा करती रही, जहाँ तुम अपनी निराशा के क्षणों में [illegible] [illegible] चली गयीं। इन आठ वर्षों में सित्तो, मैं अपने हृदय के [illegible] में किसी तरुण कलाकार की निष्ठा से

प्रेम के प्रासाद बना रहा था जो तुम्हारे इस पत्र ने चीनी के खिलौनों की तरह चूर-चूर कर दिये....

*

लेकिन जब मैं इसी रंग में एक परिच्छेद लिख चुका तो मुझे लगा कि यह तो कुछ 'गिरती दीवारें' ही का-सा पैटर्न बन रहा है। 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन अन्य पुरुष का रूप धरता है और इस उपन्यास का नायक प्रथम पुरुष का, पर उपन्यास को तो इस सूरत में भी एक ही पुरुष की अनुभूतियों के माध्यम से आगे बढ़ना था और यह बात मुझे पसन्द न थी। कथा की कठिनाई के अतिरिक्त इस सीमा में बँधकर उपन्यास के प्रवाह और उसकी उर्मियों के वैविध्य को कायम रखना बड़ी ही साधना चाहता है। 'गिरती दीवारें' के सात वर्ष के लम्बे लेखन-काल में इस कठिनाई से मैं गुजर चुका था और जैसे एक ही आसन से तंग आकर योगी दूसरा आसन बदल लेते हैं, मैं भी कुछ परिवर्तन चाहता था। तब मैंने फिर उपन्यास को नये सिरे से कुछ यों शुरू किया :

'बात आज की नहीं, उस ज़माने की है, जब पाकिस्तान को अस्तित्व में आने के लिए अभी नौ-दस वर्ष दरकार थे, लाहौर की एकमात्र मुख्य मासिक-पत्रिका 'मालती' के सम्पादक महाशय गोपालदास और अस्तंगत 'मंजरी' के सम्पादक कवि श्री चातक आमने-सामने बैठे थे। तभी महाशय जी ने मालती का ताजा अंक बीच में से खोलकर श्री चातक की ओर बढ़ाया :

"हमारी नयी लेखिका!" उन्होंने कहा।

श्री चातक ने लपककर मालती का वह अंक उनसे ले लिया। इस प्रयास में वे तनिक अपनी कुर्सी से उठ भी गये और बड़ी उत्सुकता से मालती की उस नयी लेखिका का चित्र देखने लगे।

> प्रत्येक युवती, जिससे कवि चातक का परिचय होता, अथवा होने की सम्भावना होती, अनायास ही उनकी प्रेयसी हो जाती। वे हिन्दी के बायरन हैं और लड़कियाँ अनायास उन पर मोहित हो जाती हैं, कवि चातक का यह अटल विश्वास था. . . .'

इस व्यंग्य, विद्रूप और हास्य से भरी शैली में जब मैंने एक परिच्छेद समाप्त किया तो यह मुझे बड़ा अच्छा लगा। तब उसी रौ में पाँच परिच्छेद मैं लिख गया।

किन्तु तभी चिरगाँववासी गुप्त-बन्धुओं के एक क्रूर मजाक का बहाना लेकर साहित्यकार संसद के आयोजकों ने उसी स्नेह और सौहार्द्र से, जिससे कि वे मुझे वहाँ ले गये थे, मुझे संसद भवन छोड़ने का संकेत किया। मेरे वहाँ और दिन रहने का उनके लिए कुछ उपयोग भी शायद न रह गया था, क्योंकि मुझे संसद भवन में आश्रय देने का प्रचार केन्द्रीय मन्त्रणालय तक कर जो वाहवाही अथवा धन मिल सकता था, वे लूट चुके थे। इससे ज्यादा शायद उन्हें कुछ अभीष्ट भी नहीं था। संकेत उन्होंने सूक्ष्म ही किया, पर मेरे लिए वह काफ़ी था। मैंने पत्नी से मकान देखने का आग्रह किया। दिसम्बर का महीना था, मैं बीमारी से उठा था, मेरी पत्नी प्रातः सात बजे इक्के पर बैठती और चार-पाँच मील का मार्ग तय कर शहर आती। दिन भर मकान खोजती, फिर शाम को रसूलाबाद पहुँचती। इलाहाबाद में उन दिनों सब कुछ मिल सकता था, पर मकान नहीं और संसद के आयोजकों का सौहार्द्र-भरा अनुरोध था कि हम एक निश्चित तिथि तक भवन खाली कर दें। अपने उस अनुरोध को बल देने के लिए उन्होंने साठ रुपये किराये पर एक ऐसा मकान भी खोज दिया, जिसमें रहने का एक छोटा आँगन था, दो [illegible] थे, पर रसोईघर नदारद था। हमने वचन दे दिया कि मकान न मिला तो हम उसी महँगे दड़बे में चले जायेंगे।

परन्तु मेरी पत्नी ने उस तिथि से एक दिन पहले अनवरत लगन से भवन खोज लिया।

पत्नी इस प्रयास में बीमार हो गयी। दूसरी कई उलझनें पैदा हो गयीं और उपन्यास लिखना छोड़कर घर का खर्च चलाने के लिए कुछ व्यवस्था करने की फ़िक्र पड़ी और यह उपन्यास पाँच ही परिच्छेदों पर रह गया। इसके बाद स्वाभिमान से जीवनयापन के हेतु किये गये उस घोर संघर्ष में, जिसका अभी तक भी कोई अन्त दिखायी नहीं देता, चार वर्षों में सात-साढ़े-सात महीने से अधिक समय इस उपन्यास के लिए मुझे नहीं मिला। एक महीना १९४९ में, एक महीना १९५० में, डेढ़ महीना ५१ में और चार महीना १९५२ में। इस तरह लगभग साढ़े सात महीने में उपन्यास खत्म हो गया। कैसा बन पड़ा यह कहना मुश्किल है। सिर्फ़ इतना कह सकता हूँ कि कठिन परिस्थितियों के बावजूद मैंने काम में कमी नहीं आने दी और जो समय इस बीच मुझे मिला, उसमें दिन-रात पूरी एकाग्रता से काम किया।

*

जब उपन्यास समाप्त हो गया तो मैंने पाया कि वह भावुकता-भरी रोमानी शैली, जिसमें कि वह पत्र शुरू किया गया था, हास्य-व्यंग्य-भरी शैली में परिणत हो गयी। जहाँ से उपन्यास शुरू हुआ था वहाँ खत्म हुआ और उस पत्र की रिसी उपन्यास में गहन गम्भीर सत्या जी बन गयीं और पत्र का 'मैं' जगमोहन बनकर सामने आया। पर वह जगमोहन उस पत्र का प्रेमी जगमोहन नहीं। निम्न मध्य वर्ग का, अपने वातावरण से आक्रान्त, भीरु युवक है. . . .और फिर वो हिन्दी के बायरन कवि मालवा; वो दूसरों की कलंक-कहानियों में सुख पाने वाले चतुर पत्रकार शुक्ला जी; वो धार्मिक संस्था में पल, पढ़ और बढ़कर नास्तिक बनने वाले धर्म

जी; वो वर्तमान व्यवस्था को बदल देने की फ़िक्र में ग़लतान, अपने पिता के कुकर्मों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सच्चा देश-प्रेमी बन जानेवाला हरीश; वो उससे प्रेम करने वाली निर्भीक दुरो — ये सब अपने-अपने निश्चित व्यक्तित्व लिये हुए जगमोहन और सत्या जी के साथ अपने आप 'गर्म राख' में चले आये।

रहा उस पत्र का प्रेम, तो वह इस पाँच सौ साठ पृष्ठों के उपन्यास में एकदम ग़ायब हो गया हो, ऐसी बात नहीं। प्रेम की भूख और पेट की भूख यही दो महान धुरियाँ हैं, जिनके गिर्द अधिकांश लोगों के जीवन का चक्कर घूमता है। लेकिन प्रेम प्रेम में अंतर है। प्रेम मारता भी है, जिलाता भी है, निष्क्रिय भी कर देता है और कर्म-रत भी, मौन भी होता है और मुखर भी, 'गर्म राख' में उसके कई रंग हैं। एक जगह जगमोहन गा उठता है:—

यह प्रेम कुसुम सखि मेरे
सूने उर की डाली पर
चुप, चुप धीरे धीरे सखि
मुरझा जायेगा खिलकर।

और दूसरी बार जैसे मन-ही-मन चिल्लाकर कहता है:—

छिपकली सी यह मुहब्बत
आज के युग की लजीली
भीरु
अपने नाम ही के सहम से जो सिमट आये।
तिमिर के अन्धतम कोनों
और अंतरों से सरक कर
झाँकती है।

कवि चातक एक मासिक-पत्रिका में छपा किसी युवती का चित्र देख-कर ही प्रेम के सपने देखने लगते हैं और पत्रिका के दफ़्तर की सीढ़ियाँ उतरते हुए गुनगुनाने लगते हैं :—

चित्र तुम्हारा देखा सुन्दर
देखा नहीं तुम्हें अनजानी,
पर लगता है जैसे तुम हो
युग युग की मेरी पहिचानी।

और उनका तृषित प्रेम किसी दूसरे के प्रति वफ़ा के बन्धन में बँधी तरुणी को देखकर लपलपाता हुआ कह उठता है :—

प्रेम तुम्हारे घर आया है
तोड़ो सब जग की सीमाएँ,
आओ नग्न प्रकृति से नाचें
छोड़ जगत की मर्यादाएँ।
जग ने तुमको दूर किया, मैं पास बुलाने को आया हूँ।
पीकर तुमको चिर दिन की मैं प्यास बुझाने को आया हूँ।

लेकिन फ़ैज़ की मशहूर नज़्म की गूंज भी दूर की ललकार सरीखी उपन्यास के पन्नों में सुनायी देती है :—

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।

और प्रेम की निराशा में कर्म से मुँह मोड़, संन्यास ले लेने वाले राजा भर्तृहरि की धिक्कार भी गूँज उठती है :—

धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च

लेकिन क्या भर्तृहरि की धिक्कार ही ठीक है अथवा फ़ैज़ की ललकार? चातक जी की लपलपाहट ही सही है या जगमोहन की मौन सुलगन? 'गर्म राख' के पन्नों में इसका समाधान देने का प्रयास मैंने किया। किसी को क्या पसन्द है, इससे ग़रज़ नहीं, मैंने बीस वर्ष के अनुभव और चिन्तन से जो मार्ग उस वक्त ठीक समझा, उसकी ओर निर्देश कर दिया। मुझे अपने मत की सचाई का दावा नहीं, उसकी अभिव्यक्ति की दयानतदारी का सन्तोष है।

*

लेकिन 'गर्म राख' के पाँच-साढ़े-पाँच सौ पन्नों में केवल प्रेम ही की समस्या या उसका समाधान रहा, ऐसी बात नहीं।

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।

प्रेम के अतिरिक्त इन दुख-सुखों का चित्रण भी 'गर्म राख' के पाठकों को प्रचुर मात्रा में मिलेगा।

उपन्यास को समाप्त करने पर 'गिरती दीवारें' की याद आयी तो लगा कि दोनों में कई तरह की समानता और विभिन्नता है।

साम्यता को लें तो 'गर्म राख' का नायक 'गिरती दीवारें' के नायक से अधिक भिन्न नहीं। चेतन का किंचित प्रौढ़ रूप वह है, पर वही ऐसी कड़ी है जो 'गर्म राख' को 'गिरती दीवारें' के निकट ले आती है। लेकिन 'गर्म राख' की नायिका—तनु मौन, गम्भीर, रूखी, [illegible], [illegible] [illegible]—उसका 'गिरती दीवारें' में कहीं निशान नहीं। 'गर्म राख' जगमोहन की नहीं, सत्या की कुण्ठा और उस कुण्ठा से जनित निराशा के आवेश में कर्मक्षेत्र को छोड़, आत्महत्या सरीखे पलायन की दर्द-भरी कहानी है। लेखक पर [illegible] [illegible] [illegible] करने का दोष लगाया गया है। लेखक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तो इतने पृष्ठ काले न करता।

बोल, क्रिपा बलदेव की जय !

कवि किस प्रकार कविता सुनाने के समय नखरे करते हैं, विशेषकर उस सूरत में जब उनके कण्ठ में कुछ रस भी हो, इसे प्रायः सभी काव्य-प्रेमी जानते हैं—ऐन वक्त पर उनका गला खराब हो जायगा, कविता उन्हें याद न आयेगी (यद्यपि सुनाने लगेंगे तो पोथी-की-पोथी जबानी सुना जायँगे) या उनका मूड ही न होगा। लेकिन कई बार श्रोता भी कैसे अजीब मिल जाते हैं, यह बात कुछ कवि ही जानते हैं। मुझे एक बार ऐसे दिलचस्प श्रोताओं से पाला पड़ा कि आज भी उनकी याद आती है तो अनायास मन-ही-मन हँस उठता हूँ।

बात किंचित व्यक्तिगत है। पर मैं खुला आदमी हूँ। काफ़ी खुली जिन्दगी जीता हूँ, बुरी तो, भली तो, मेरी सभी बातें प्रायः लोग जानते हैं। किस्सा मेरी दूसरी शादी का है। हमारे समाज में कुँवारे या रँडुवे युवक से लोग जैसे डरते हैं, इसका कुछ-न-कुछ अनुभव सभी को होगा। पहली पत्नी के देहान्त के बाद मैंने चार बरस शादी नहीं की, जल्दी करने का इरादा भी न था, पर पहले लाहौर में एक स्कैण्डल हुआ, फिर प्रीतनगर में और परेशान होकर मैंने अपने [illegible] भाई को लिखा कि कहीं मेरी सगाई कर दें। उन्होंने एक [illegible] में सगाई कर दी। तभी एक

महीने बाद कौशल्या से मेरा परिचय हुआ। अब सगाई वहाँ हो चुकी थी और शादी मैं इधर करना चाहता था। कौशल्या मानी नहीं (याने जैसे मैं चुपचाप शादी करना चाहता था कि सगाई अपने-आप टूट जायगी, वैसे शादी करने को वह नहीं मानी। उसका खयाल था कि पहले सगाई तोड़ दीजिए, फिर शादी होगी।) मैं ब्राह्मण, वह क्षत्री, बीस अड़चनें। लाख कोशिश करने पर भी सगाई नहीं टूटी। शादी की तारीख़ तो सगाई के साथ ही निश्चित हो चुकी थी, सो वह सिर पर आ गयी। अब मन शादी में है नहीं और तैयारियाँ जोर-शोर से हो रही हैं। मित्रों को भी ख़बर लगी। लाहौर में उन दिनों साहित्यिकों का जमघट, जो भी मिलता, कहता, 'कहिए अश्क जी आपकी शादी हो रही है, हमें बारात में न ले चलिएगा ?' मैं कहता, 'ज़रूर चलिए।' इस तरह भट्ट जी, प्रेमी जी, चन्द्रगुप्त जी, चिरंजीत जी, पुष्प जी, कंटक जी, तरुण जी, करुण जी, चातक जी, घातक जी—याने लाहौर के जितने 'जी' थे सबको मैं बारात में ले गया।

शादी मन के अनुसार होती तो उसके तौर-तरीकों में इच्छा का दखल होता। पहली शादी मैंने अपनी आमदनी से की थी। (तीसरी शादी में मैंने केवल ५) ख़र्च किये।) पर यह तो पुरानी तर्ज़ की शादी थी। बीस रस्में। जो किसी ने कहा, चुपचाप कर दिया। लगता यह था कि शादी किसी दूसरे की है और हम बरातियों में आये हैं। उन दिनों मेरे लम्बे-लम्बे बाल थे और पगड़ी बाँधना मैंने छोड़ दिया था। लेकिन पण्डित ने कहा कि सेहरे के लिए पगड़ी बाँधना ज़रूरी है। मैंने कसकर बड़ी नोकदार पगड़ी बाँधी। चूँकि सेहरा नोक पर नहीं बँध सकता था, इसलिए पण्डित ने आगे-पीछे दोनों [illegible] बदल दिया। लम्बे-लम्बे बाल पगड़ी के दबाव से खिंच गये। बड़ा ही कष्ट हुआ, पर चुपचाप सेहरा बँधवा लिया। [illegible] [illegible], [illegible] नहीं देखी, पर पण्डित ने [illegible] [illegible] किया. [illegible] और अफ़सरों के बारे में सुन रखा था कि अफ़सर

की 'अगाड़ी' और घोड़े की 'पिछाड़ी'....दोनों बुरी होती हैं। याने अफ़सर के आगे खड़े हों तो डाँट पड़ती है और घोड़े के पीछे खड़े हों तो दुलत्ती। और मैं दोनों से काफ़ी दूर रहा हूँ, पर पण्डित ने कहा तो सेहरा बांध, तलवार सजा घोड़ी पर चढ़ गया। पगड़ी में नाल कसे होने के कारण सिर फटा जा रहा था। घोड़ी किसी बड़े आदमी की थी — पली और भरी-पुरी — नखरे से चलती तो लगता कि अभी गिरे, अभी गिरे, पर मैं था कि दिल में काँपता, पर प्रकट लगाम थामे सीना ताने बैठा था....हर रस्म-रिवाज में यही होता रहा और बड़ी बेदिली से मैं उस सारे कार्य-व्यापार में भाग लेता रहा।

*

शादी का दूसरा दिन था, दोपहर का वक्त, मैं अन्यमनस्क-सा बैठा उस सारे तमाशे पर ग़ौर कर रहा था और सोच रहा था कि आख़िर यह सब क्या हो रहा है और मैं कैसे अनचाहे इस बन्धन में बँधा जा रहा हूँ कि सहसा कानों में आवाज़ आयी।

"महाराज !"

देखा, एक महाशय हाथ जोड़े खड़े हैं। शायद वो देर से खड़े थे और मैं नीचा सिर किये अपनी सोच में ग़र्क था। उन्हें हाथ जोड़े देखकर अचकचाकर मैं उठा और मैंने भी हाथ जोड़ दिये, "जी महाराज !"

हाथ मलते हुए, बड़े संकोच से बोले, "महाराज, वह....हमने सुना है कि आपके साथ बड़े नामी-गरामी कविगण आये हैं, सो हमने सोचा कि....कि....कि....एक कवि-सम्मेलन यहाँ हो जाय।"

"[illegible] !" मैंने कहा।

"जी...तो...तो..." वे ख़ुशी के मारे शब्द न पा रहे थे। इतनी जल्दी मेरे मान जाने की उन्हें उम्मीद न थी।

"कब चाहते हैं आप कवि-सम्मेलन ?" उनकी मुश्किल को आसान बनाते हुए मैंने पूछा।

"जी. . .जी. . . .आप कृपा करें तो आज रात ही को नौ बजे हो जाय। खाना खाने के बाद। इतने में हम उसकी घोषणा कर देंगे। सबको सूचना दे देंगे।"

"तथास्तु !" मैंने कहा, "हो जायगा।"

उनकी खुशी का वारापार न रहा। बोले "तो जी वाहन ?"

वाहन ! —मैं समझा नहीं, तब मैं ज्यादा उर्दू में लिखता था। हिन्दी नयी-नयी सीख रहा था।

"जी, मोटर-वोटर, सवारी. . . .।" वे बोले।

अब आप कवियों के नखरे जानते हैं। सौ नखरों के साथ मण्डप में वे जाते हैं और सौ नखरों से पढ़ते हैं (पुराने कवि पिस्ता-बादाम मिली बूटी का सेवन करते थे तो उर्दू शायरों की देखा-देखी नये कवि मोटर-टैक्सी की तो बात दूर रही, निःसंकोच ह्विस्की की माँग करते हैं।) पर जैसा मूड था उसका उल्लेख कर ही चुका हूँ। बोला —

"नहीं जी, वाहन-फाहन की कोई जरूरत नहीं, हम चले आयेंगे टहलते हुए — कहाँ होगा सम्मेलन ?"

"जी गीता भवन में।"

मैं कभी गीता भवन गया नहीं, पर पञ्जाब में गीता भवनों की श्रृंखला है। मैंने कहा, "गीता भवन तो मशहूर जगह होगी।"

"हाँ जी," वे बोले, "बड़ा प्रसिद्ध स्थान है जी, नगर का बच्चा-बच्चा जानता है जी।"

"तो फ़िक्र न कीजिए जी . . .हम चले आयेंगे जी।"

[illegible] आभार प्रकट करते हुए चले गये, वैसे [illegible] बाद मैं उस हाल में गया जहाँ बराती

मित्र ठहरे थे। मैंने कहा, "मित्रो, एक कवि-सम्मेलन का बुलावा आया है, जाने आप लोग कभी इस शहर में फिर आयें या न आयें, पर अपनी मधुर याद आप यहाँ निश्चित छोड़ जायँ, ऐसा मेरा प्रस्ताव है, इसलिए मैंने बिना आपसे पूछे 'हाँ' कर दी है। अब आप मेरी इस 'हाँ' की लाज रखें, यही प्रार्थना आप लोगों से मैं करता हूँ।"

अब मैं दूल्हा और वे लोग बराती, कैसे इनकार करते। भट्ट जी का डर था, वही बुजुर्ग थे, उन्हें इस तरह चलने में कुछ संकोच भी था, पर उन्हें हाथ जोड़कर मैंने मना लिया। शाम के खाने के बाद पान चबाते, गप्पें लगाते हम गीता भवन की ओर चले।

खाने में किंचित देर हो गयी थी, फिर हम पैदल गये थे, इसलिए ज़रा देर में पहुँचे। गीता भवन का हाल काफ़ी बड़ा था। फ़र्श पर दरियाँ बिछी थीं, जिन पर दर्शकगण बैठे थे। सामने सीमेण्ट का तख्त ऐसा चबूतरा बना था, उस पर गद्दा और दूध-सी सफ़ेद चादर बिछी थी और दूध ही-से सफ़ेद तकिये के सहारे एक महन्त ऐसे सज्जन, कैसे बताऊँ, कुछ गोस्वामी गणेशदत्त की तरह, खादी की सफ़ेद धोती आधी तहमद की तरह कमर में बाँधे और आधी शरीर पर लपेट अपने स्थूलोदर पर बड़े इतमीनान से हाथ रखे कदाचित् सभापतित्व कर रहे थे। शायद वे भवन के संचालक थे। मंच के एक ओर ऊँचे से डेस्क के पीछे एक देवी जी खड़ी कोई व्याख्यान दे रही थीं। या यों कहिए कि कापी से पढ़ रही थीं। हाल में हमारे प्रवेश करते ही वे अपनी कापी उठाये हुए चली गयीं और हम लोग दरी पर बैठ गये। तब उन महाशय ने, जो सुबह हमें निमन्त्रित कर आये थे, एक काग़ज़ उन महन्त जी की ओर बढ़ाया और अभी मैं साँस भी न ले पाया था कि उन्होंने अपने पेट पर हाथ फेरते हुए कहा, "अब हम श्री उपेन्द्रनाथ अश्क से प्रार्थना करेंगे कि वे अपनी कविता सुनायें।"

मुझे बड़ा गुस्सा आया। 'मेरा मन इस शादी में है या नहीं, इसे तो केवल मैं जानता हूँ।' मैंने सोचा, 'पर हूँ तो मैं दूल्हा। यह क्या बात हुई कि पहले मुझे ही बुला लिया। अरे, पहले कुछ स्थानीय कवि पढ़ते, फिर दो-चार लोग हमारी ओर से पढ़ते। फिर मैं पढ़ता।' यदि यह विवाह मेरे मन से हुआ होता तो दूल्हा होते हुए मैं पहले कभी कविता न पढ़ता, पर मैंने कहा न कि मूड वैसा बड़ा बेदिली का था —— ऐसी बेदिली का —— जिसमें बड़ी बेपरवाही आ जाती है। मैं उठा और डेस्क के पीछे जा खड़ा हुआ। कविताएं यों भी मैं बहुत नहीं लिखता, जो लिखी थीं, वह याद नहीं थीं। एक कविता उन्हीं दिनों लिखी थी, पर वह प्रेम-प्रधान थी। वह ठहरा गीता भवन, मुझे बड़ा संकोच हुआ, पर सोचने का समय नहीं था, समय होता तो याद पर ज़ोर देकर कोई दूसरी कविता काग़ज़ पर लिख-कर पढ़ देता। तब बड़ी सफ़ाई से संक्षिप्त रूप में अपनी उसी प्रेम-प्रधान कविता की धार्मिक व्याख्या मैंने कुछ यों की :——

'सज्जनो ! जो कविता मैं आपके सामने पढ़ने जा रहा हूँ, सरसरी दृष्टि से देखने पर वह साधारण प्रेम की कविता लगेगी, पर ज़रा ध्यान से आप सुनेंगे तो इसके आध्यात्मिक तत्व को आप पा जायेंगे। कविता का शीर्षक है —— 'भेंट'। और यह भेंट है एक अकर्मण्य की जीवनी-शक्ति से; पदार्थवाद की आध्यात्मिकता से; अधर्म की धार्मिकता से. . . .' और मैं कविता पढ़ने लगा :——

> हम मिले——
> हम मिले
> मुझे मालूम हुआ
> तुम तरुण नदी हो,
> तूफ़ानी,

अनजानी गिरि मालाओं में बहने वाली,
इठलाती,
बलखाती,
बहती
और बहाती
पाषाणों को
चट्टानों को
गिरि के उर को चीर निकलती
और मचलती
चलती हो उद्दाम !
और मैं दरिया
चिर का चला,
थका औ हारा
मंथर गति से मैदानों में बहने वाला
मौन और गम्भीर
शान्त और श्रान्त
यौवन की सब याद भुलाकर
लूट
लुटाकर
बहता हूँ उद्भ्रान्त !

'उद्भ्रान्त' कहते हुए जब मैंने हाथ से उद्भ्रान्तता का संकेत किया कि मंच पर बैठे हुए वे महन्त जी सहसा घुटनों के बल उठे और दायें हाथ को हवा में जोर से घण्टी बजाने के अन्दाज में हिलाते हुए उन्होंने पञ्जाबी लहजे में तीन बार जयकार बुलाया :—

बोल, क्रिश बलदेव की जय !
बोल, क्रिश बलदेव की जय !
बोल, क्रिश बलदेव की जय !

और सारा सभा-मण्डप एक स्वर हो तीन बार कृष्ण बलदेव की जय से गूँज उठा। किंकर्तव्यविमूढ़ शब्द मैंने कई बार सुना था और उसका प्रयोग भी किया है, पर उसके ठीक अर्थ मैंने तभी जाने। किंकर्तव्यविमूढ़ बना मैं चुप हो गया।

तब मेरी ओर मुड़ते हुए महन्त जी ने कहा, 'महाराज आप पढ़िए, आप पढ़िए, वास्तव में यहाँ ताली नहीं बजाते।'

और यों ताली बजाने के बदले जयकारा बुलाकर उन्होंने मेरी कविता की दाद दी थी। कविता के तीन बन्द थे। तीनों के अन्त में महन्त जी ने जयकारे बुलाये। मैं तो कविता पढ़कर बैठ गया, लेकिन जब दूसरे कवि पढ़ने लगे और मैंने अपने उस मूड में दाद का वह ढंग अपनाया तो उस दिन जो मित्र मुझसे नाराज़ हुए, वे आज तक नाराज़ हैं।
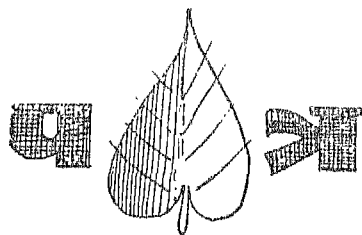
प्रिय किरण,

आशा है तुम तन और मन दोनों से पूर्णतः स्वस्थ होगी और पिछले दिनों लखनऊ में तुम्हें अचानक ही जिस दुर्घटना का सामना करना पड़ा, उसका प्रभाव तुम्हारे मन से एकदम निकल गया होगा और तुम स्वस्थ मन से पढ़ने, लिखने, खेलने और जिन्दगी की दूसरी सरगर्मियों में भाग लेने लगी होगी।

मैंने मौसी जी से उस दुर्घटना की बात सुनी थी और मामा जी को पत्र भी लिखा था। बहुत दिनों बाद उनका और बिल्ला का पत्र आया। इसी बीच में लखनऊ वाली मामी जी भी यहाँ आयी थीं और उनसे सारी दुर्घटना का पता चल गया था। मैं तुम्हें तत्काल ही पत्र लिखता, लेकिन मामा जी के उत्तर से मुझे पता लगा कि तुम्हारे मन पर उस दुर्घटना का बड़ा प्रभाव है, इसलिए मन कुछ दिन चुप रहना उचित समझा। यह पत्र भी मैं तुम्हें उस घटना की याद दिलाने या उस सम्बन्ध में संवेदना प्रकट करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी अनुभूतियाँ बताने के लिए लिख रहा हूँ।

मैंने अपनी जिन्दगी में बड़ी मुसीबतें उठायी हैं। एक बार नहीं, कई बार मेरे अपने टूटे हैं और मेरे मन-प्रासाद [illegible] मेरे देखते-देखते ढह गये

है। एक बार जब मैं बड़े मानसिक कष्ट में था और मुझे कहीं से रास्ता नहीं मिल रहा था, मैंने प्रेमचन्द को एक पत्र लिखा था। वे स्वयं मरणासन्न थे, बड़े शारीरिक कष्ट में थे, दो महीने बाद परलोक भी चले गये, लेकिन मुझे उन्होंने जो उत्तर दिया, उसने मेरी अगली जिन्दगी को संवार दिया। छोटा-सा खत था, लेकिन उसमें दो पंक्तियाँ बड़े काम की थीं—

"दुख और तकलीफ़ों का एक नैतिक पहलू भी है, इन्हीं में से गुजर कर इन्सान इन्सान बनता है और उसमें दृढ़ता आती है।"

सच मानो इन दो पंक्तियों ने मेरी जिन्दगी में उतना काम किया जितना सौ पुस्तकों के सौ उपदेश भी नहीं कर सकते. . . . जिन्दगी में जिन्हें कोई दुर्घटना पेश नहीं आयी, कोई दुख या कोई तकलीफ़ नहीं हुई, ऐसे आदमी हैं, यह मैं नहीं कह सकता। अगर हैं तो मैं उन्हें भाग्यवान नहीं समझता, क्योंकि वे जिन्दगी को जाने बिना, एक बड़े ही सीमित दायरे में घूमकर, इस दुनिया से चले जाते हैं। इसके मुक़ाबिले में जिन्होंने दुख-दर्द जाना है, वे वास्तव में भाग्यवान हैं। तुम बड़े लाड़-प्यार में पली हो; तुम्हारी उमर बड़ी छोटी है; दुख तुमने प्रायः नहीं जाना। मैं जानता हूँ कि इस दुर्घटना से तुम्हें बड़ा ही मानसिक धक्का लगा होगा, लेकिन तुम इसे अपना दुर्भाग्य नहीं, भाग्य समझो कि इतनी छोटी उमर में [illegible] से तुम्हारा साक्षात्कार हुआ; भाग्य समझो कि इससे बड़ी ट्रेजेडी अथवा बड़ी हानि नहीं हुई, भाग्य समझो कि तुम इस दुर्घटना और इसके परिणाम को झेलकर इसी में से रास्ता निकाल, आगे आने वाली किसी भी मुसीबत से जूझने की शक्ति पा जाओगी और अगर फिर कभी कोई मुसीबत आयेगी तो बिना साहस छोड़े, [illegible] उसका मुक़ाबिला करने और आगे [illegible] बढ़ने में तुम्हें ज़रा भी कठिनाई न होगी।

हो सकता है कि तुम्हारे मन में आये कि जीजा जी बड़े उपदेश बघारते हैं, [illegible] तकलीफ़ हुई है, ये क्या जानें? बात ऐसी नहीं। मैंने शारीरिक

भी और मानसिक भी बड़े कष्ट झेले हैं और मैं कहता हूँ कि यह मेरा सौभाग्य है कि बचपन ही से मुझे जिन्दगी की इन कटु वास्तविकताओं से दो-चार होना पड़ा है, और बचपन ही से मैं शक्ति सँजोना सीख गया हूँ। यही कारण है कि कोई भी विपत्ति—मानसिक अथवा शारीरिक—मेरे पाँवों को डगमगाने की शक्ति नहीं रखती....एक बार हॉकी खेलते हुए मेरी आँख के नीचे काफ़ी गहरा ज़ख्म आ गया। बड़ा-सा लोथड़ा बाहर निकल आया। बाल बराबर अंतर से पुतली बच गयी, नहीं काना हो जाता। तो भी महीनों आँखें ख़राब रहीं और ग़रीबी में आटा गीला के अनुसार डाक्टर ने गलत दवा डाल दी। एक बार तो लगा कि अन्धा हो जाऊँगा। तुम्हें विश्वास नहीं आयेगा, पर मैं सच कहता हूँ, मैंने बन्द आँखों ही से दो-दो उँगलियाँ छोड़कर कागज पर लिखने की प्रैक्टिस की कि यदि अन्धा हो जाऊँ तो मेरा काम न रुके।

सो बल्ली[1], इस ट्रैजेडी को (मैं जानता हूँ कि यह बड़ी धक्का लगाने वाली है) इसी रोशनी में देखो और इसी से शक्ति प्राप्त करो। आने वाले युग में, जहाँ तक [illegible] का सम्बन्ध है, लड़की-लड़के का अंतर मिट जाने वाला है। लड़कियों को लड़कों-सी शक्ति और [illegible] दरकार होगी। मैं आशा करता हूँ कि यह घटना तुम्हारे [illegible] को और भी मज़बूत करेगी। तुम इसे विपत्ति न समझ कर आगे बढ़ने की एक सीढ़ी समझोगी जो जिन्दगी की कटु वास्तविकताओं से तुम्हारा यह पहला साक्षात्कार तुम्हारे कदमों को आगे आने वाली परीक्षाओं के लिए दृढ़ से दृढ़तर बनायेगा।

शेष बहुत-बहुत प्यार लो। मुझे लिखना कि अब तुम तन और मन से पूर्णतः स्वस्थ हो।

सस्नेह

अश्क

---

१. पञ्जाबी में प्यार का सम्बोधन

प्रिय '—जी,'

'बरसात की शाम' के बारे में आपका १८–१२–५७ का संक्षिप्ततम पत्र मिला। आपने मेरी कविता पसन्द करते हुए मुझे बधाई दी होती अथवा किसी अनजानी पाठिका के रूप में उसके ये अर्थ निकाले होते तो मुझे बुरा न लगता और अपनी कविता की सफलता पर (जब कि लोग मुझे मुख्यतः नाटककार अथवा कथाकार मानते हैं) अपार खुशी होती। पर पहले तो यह कि आप मेरी [illegible] आपने केवल कविता का अन्तिम चरण उद्धृत [illegible]

> 'मन बहुत उदास हो गया है, पर उदासी-सी उदासी तो
> यह दीखती नहीं—यही दीखता है :
>
> **क्षितिज में छिप चुका दिन का दिया...**
> **छिप चुका दिन का दिया...**
> **औ' अधजली सन्ध्या...'**

तो इनके बाद की दो पंक्तियों के सन्दर्भ में आपकी मनःस्थिति को जानकर मैं स्वयं बेहद उदास हो उठा हूँ।

मैंने जब यह कविता लिखी थी तो मुझे क्षण भर को भी यह ख़याल न आया था कि कोई इसके ये अर्थ भी लगा सकता है—न उस वक्त, न बाद में मित्रों को सुनाते हुए ! दिसम्बर की एक बरसाती शाम, बादलों के किंचित् साँस लेने पर सैर को जाते और आते हुए पश्चिम के क्षितिज पर मैंने जो नजारा देखा, उसे यथासम्भव हू-ब-हू कविता में उतार दिया। सूरज डूबने से कुछ देर बाद जब मैं सैर से लौटा तो आकाश के पंथ में उदास और अकेली [illegible]गती-सी वह साँझ मुझे पंख-नुची तितली-सी तो लगी, पर वह पंख-नुची जिन्दगी का भी प्रतीक हो सकती है, कोई उसे अपने ऊपर भी घटा सकता है, इसकी मैंने कभी कल्पना न की थी। इसीलिए आपके पत्र की ये चन्द पंक्तियाँ पढ़कर मैं सिहर उठा हूँ और मुझे डलहौजी में मिले आपके एक ऐसे ही उदास, संक्षिप्त पत्र की (जिसका शायद काफ़ी लम्बा उत्तर मैंने दिया था) और वर्षों पहले की उस शाम की याद हो आयी है, जब हम पहाड़ी से उतर रहे थे और सामने सूर्यास्त के बाद के नीम-अँधेरे में [illegible] हुए आपने कहा था—[illegible], चारों ओर अँधेरा है, न कोई आगे है, न पीछे और लम्बी सूनी सड़क पर मैं अकेली चली जा रही हूँ. . . . अकेली चली जा रही हूँ . . . .'

मुझे अच्छी तरह याद है, कुछ ऐसी ही बात आपने कही थी। आपके इस पत्र की इन दो पंक्तियों में, डलहौजी में मिले आपके उस संक्षिप्त पत्र में और पहाड़ी से उतरते समय के उस कथन में मुझे बड़ी समानता लगी है। इसलिए पहले दो अवसरों पर मैंने जो कहा था, वैसा ही कुछ अब भी कहना चाहता हूँ (हालाँकि मैं जानता हूँ कि न तब मेरे कहने का कुछ असर हुआ था, न अब होगा, लेकिन यदि मैं न कहूँगा तो निरन्तर कल्पना में वह सब आपको कहता रहूँगा, इसीलिए यह सब यहाँ लिपिबद्ध कर आपको भेज रहा हूँ।)

'—— जी,' मैं नहीं समझ पाता, आप इस तरह क्यों सोचने की आदी हो गयी हैं। जिसके पास इतनी जबरदस्त प्रतिभा है, जो अपनी लेखनी से जादू जगा सकता है, वह किस तरह इतना अवश, इतना अकेला महसूस कर सकता है। एकाकीपन की अनुभूति से मैं अनभिज्ञ नहीं। कभी-कभी मैं स्वयं नितान्त अकेला महसूस करता हूँ। पर इस अनुभूति का सत्य ही एक-मात्र सत्य नहीं। पहले तो यह कि जो चीज आदमी के पास नहीं अथवा जिसे पाने का अवसर उसने हाथ से निकल जाने दिया है, यदि वह उसे मिल जाती——जो अभाव वह महसूस करता है, यदि वह भर जाता तो क्या आपका खयाल है कि वह कभी तनहा और उदास महसूस न करता। आदमी भरे-पूरे परिवार, अतीव स्नेह करने वाले संगी, प्यारे बच्चों, धन और धान्य के बीच घिरा भी कभी-कभी नितान्त अकेला और उदास महसूस कर सकता है——विशेषकर सोचने-समझने वाला व्यक्ति। ऐसा न होता तो गौतम बुद्ध कभी घर त्यागकर न चले जाते।

लेकिन मेरे खयाल में यह पूरा नहीं, आधा सत्य है। इस एकाकीपन की अनुभूति के बावजूद कल्पनाशील कलाकार कभी अकेला नहीं रहता, बनते-बिगड़ते, एक दूसरे से गुत्थम-गुत्था होते विचारों, देखी और अनदेखी घटनाओं, कल्पित और यथार्थ पात्रों का हुजूम उसे हर वक्त घेरे रहता है। और उन्हें कागज पर उतारकर वह अपना ही नहीं, दूसरों का अकेलापन भी दूर कर देता है। उसके अभाव अभाव नहीं रहते, खिलवत जलवत हो जाती है और अपने दुखों और परेशानियों से वह एक अजीब तरह का सुख कशीद कर लेता है।

पर यह सब मैं आपको क्या बताऊँगा, आपको शायद मुझसे कहीं ज्यादा पता है और [illegible] भी है, पर जो मैं कहता रहा हूँ और अब भी कहना चाहता हूँ, वह यह है कि [illegible] जो आप अपनी प्रतिभा को पहचानती नहीं (कैसे न पहचानती होंगी जब आपने इतनी सुन्दर चीज़ें लिखी हैं) अथवा वह

प्रतिभा जो कुछ प्रदान कर सकती है---दूसरों को ही नहीं, स्वयं आपको भी---वह अपनी दूसरी इच्छाओं के मुक़ाबिले में आपको कुछ महत्व का नहीं लगता। मैंने जब-जब आपकी रचनाएँ पढ़ी हैं, इस बात का तकलीफ़देह एहसास मुझे हुआ है कि आप अपनी स्नॉबरी अथवा लाउबालीपन अथवा अन्तरमन की शोखी (waywardness) के कारण न तो अपनी प्रतिभा को ठीक रास्ते पर लगाती हैं और न अपनी रचनाओं की कदर करती हैं। कोई प्रतिभा-सम्पन्न, शोख, पर बेपरवा बच्चा सुन्दर खिलौने अथवा चित्र बनाता-बनाता जैसे जाकर गिल्ली-डण्डा खेलने लगे और उन चित्रों अथवा खिलौनों को भूल जाय, ऐसे ही आप इतनी सुन्दर चीजें लिखते-लिखते दूसरे शग़लों में हिस्सा लेने लगती हैं और वही शग़ल आपको महत्वपूर्ण दिखायी देने लगते हैं। लेकिन आप उन शग़लों में भी अपने आप को पूरी तरह भुला नहीं पातीं। इसीलिए अतृप्ति और कुण्ठा शेष रह जाती है और आप उदास हो जाती हैं।

जब मेरी तरह के लेखक अपनी खाम और त्रुटिपूर्ण कृतियों को सजाते-सँवारते, सीने से लगाये फिरते हैं तो आपका उन सुन्दर रचनाओं को एक संग्रह-रूप में छपवाने का प्रयास भी न करना, मुझे न केवल चकित कर देता है, बल्कि बुरी तरह अखर भी जाता है।

जब-जब मैं इस विषय पर सोचता हूँ, मुझे लगता है कि शायद भगवान किसी को सब कुछ नहीं देता। मुझ जैसों को यदि उसने लिखने की दुर्निवार उत्कण्ठा दी तो आप जैसी प्रतिभा नहीं दी, आपको यदि प्रतिभा दी तो उतनी उत्कण्ठा नहीं दी। जाने आप क्यों नहीं समझतीं कि आप जिन चीज़ों के पीछे भागती हैं, जिनकी कामना करती हैं, वे उस वरदान के मुक़ाबिले में, जो भगवान ने आपको उस प्रतिभा के रूप में दिया है, नितान्त निरर्थक, नगण्य और हेय हैं।

आपकी बात नहीं, निकट ही जैनेन्द्र जी को देखिए। इतना प्रतिभा-शाली लेखक—कहां भटक गया! अपने सोने की ओर न देखकर वे कब से पीतल के पीछे भटक रहे हैं। नेताओं की-सी प्रशंसा और वाहवाही लूटने के प्रयास में वे कई बार कितने दयनीय बन जाते हैं। वे क्यों नहीं समझते कि कलाकार ग्लैमर से दूर रहकर जो कुछ दे सकता है, ग्लैमर में कभी नहीं दे सकता। नेता वे बन नहीं पायेंगे और लेखक रहेंगे नहीं। यही उनकी ट्रैजेडी है।

जिसके पास प्रतिभा का इतना धन है, जो खुद को ही नहीं, दूसरों को भी सुख और प्रेरणा दे सकता है, वह यों भटक जाय और फलस्वरूप दुखी, अकेला अथवा कुण्ठित महसूस करे, इस बात पर मुझे कभी-कभी बड़ी हैरत होती है और खयाल आता है कि अच्छा हुआ कि भगवान ने हमें वैसी असन्तुलित प्रतिभा न देकर सृजन की प्रबल उत्कण्ठा और श्रम की शक्ति दी। डलहौजी में जब आपका ऐसा ही पत्र मुझे मिला था तो मैं कई दिन तक इसी समस्या पर विचार करता रहा था। उन दिनों मैं अमरीका में वेल्ज के कवि डिलन टॉमस के प्रवास का वृत्तान्त पढ़ रहा था जो उर्दू कवि अख्तर शेरानी और 'मजाज' की तरह अपनी प्रतिभा के असन्तुलन का शिकार हो गया। तब मैंने एक कविता लिखी थी। जाने आपको तब भेजी भी हो।

ओ मेरे भगवान
(अगर तेरा अस्तित्व कहीं है,
और नियति का मेरी कर्ता कोई तेरे सिवा नहीं है)
ले मेरा आभार
कि मुझको नहीं [illegible]
[illegible] उठूं [illegible] के छिन्न-छिन्न तारों में क्षण भर
और बुझ जाऊँ

अम्बर को नापूँ
औ' दूजे क्षण अपनी ही गति से मिट जाऊँ

ले मेरा आभार
कि तूने मुझे बनाया वट का बिरवा
धरती की मिट्टी पर पनपूँ
सूरज की किरणों से क्षण-क्षण जीवन पाऊँ
उठूँ, बढ़ूँ, फूलूँ, फैलूँ धरती पर छाऊँ
और थके-हारे पथिकों की श्रान्ति मिटाऊँ।

आज यह पत्र लिखते हुए यह कविता फिर मन में कौंध गयी है, पर वैसी प्रतिभा के अभाव के लिए मन को तसल्ली देकर भी मन का क्षोभ नहीं मिटा। बार-बार यही ख़याल आता है कि आप क्यों इतने भरे-पुरे नगर में, उतनी गहमागहमी और कोलाहल में, उसका अंग बनते हुए भी अपने आपको इतनी अकेली और उदास पाती हैं। क्यों नहीं अपने आपको उसमें एकदम [illegible] मुक्त होतीं या [illegible] साहित्य-सृजन में सन्तोष पातीं। [illegible] अभावों की [illegible] भी नहीं है, उसके पाने की चिन्ता छोड़, जो अपने पास है क्यों नहीं उसके बल पर साहित्य का सुन्दर संसार बसातीं और कौन जानता है, यदि आप यह सब करें तो आपका वह अभाव ही मिट जाय! न भी मिटे तो मुझे विश्वास है कि सृजन शक्ति का एहसास और ख्याति उस अभाव को अभाव न रहने देंगे और वरदान बना देंगी!

मैं यदि अपने अभावों की बात सोचने लगूँ तो न जाने कितना उदास हो जाऊँ, पर जब यह सोचता हूँ कि यदि वे अभाव न होते तो शायद मैं लेखक ही न होता, तब उन अभावों के लिए भी मैं नियति का शुक्रगुज़ार होता हूँ और [illegible] —

सब उसका अभिशाप नहीं, वरदान सरीखी दिखायी देती हैं। आप अपने अभावों को इस तरह क्यों नहीं देखतीं, खामियों को खूबियाँ क्यों नहीं बना लेतीं।

'पर यह सब करके होगा क्या ?'—शायद आप यह सब पढ़कर व्यंग्य-भरी निराशा से कह उठें, जैसा कि आपने एक बार पहले भी कहा था। लेकिन कुछ न होने से क्या कुछ होना बेहतर नहीं। जड़ता से गति हर हाल में अच्छी है। आप जब किसी की कोई रचना पढ़कर सुख पाती हैं और दूसरों से भी उसे पढ़ने की सिफ़ारिश करती हैं तो कौन जानता है कि लिखने वाला आप ही की तरह अकेला और दुखी नहीं था। अपने अभाव, कुण्ठा और अकेलेपन को यदि आप साहित्य रचन में लगा देंगी तो न केवल वह दूसरों को सुख देगा, वरन् आपको भी सन्तोष प्रदान करेगा। इस तरह उदास रहने की अपेक्षा क्या यों सुख पाना आपको श्रेयस्कर नहीं लगता—अपने अकेलेपन को पाठकों से बाँटकर क्या दुकेला होना आप अच्छा नहीं समझतीं . . . .

पत्र बहुत लम्बा हो गया और मैं जानता हूं, इससे कोई लाभ नहीं होगा। (सिवा इसके कि यह सब लिखकर मैं आराम की नींद सो सकूँगा) आप में मेरी तरह ईंट पर ईंट चुनने का सब्र नहीं। प्रेरणा के किसी प्रबल क्षण ही में आप लिख सकती हैं। यही मनाता हूँ कि आपके वे क्षण अधिकाधिक आयें और आपने अपने गिर्द स्वयं ही जो यह जाल बुन रखा है, उसे तोड़कर आप अपने साहित्यकार को मुक्त करें कि वह अपनी प्रतिभा की पूरी आब-ताब के साथ जल्वागर हो।

सस्नेह

अश्क

बी० ए० में थर्ड डिवीजन में पास हुआ था, पर उससे मेरे कैरियर में क्या अंतर पड़ा? यदि तुम्हें लगता है कि तुम्हारे कैरियर के लिए अच्छा डिवीजन ही जरूरी है तो अगले अच्छे नम्बरों पर पास हो जाओ। यह मुश्किल नहीं है। बी० ए० के बाद मुझे भी डिवीजन का बड़ा मलाल हुआ था। और तीन बरस नौकरी करने के बाद मैं लॉ कॉलेज में दाखिल हुआ तो सात सौ लड़कों में सातवें नम्बर पर आया। मेरे अहं की तुष्टि भले ही हो गयी हो, पर मेरे कैरियर पर उसका भी असर नहीं पड़ा। हाँ, अपनी शक्ति में विश्वास जरूर बढ़ गया।

जिन्दगी में कई बार सीधे मंजिल पर पहुँचना मुश्किल हो जाता है, रास्ता कट जाता है अथवा घुमाव दे देता है, पर यदि आदमी की आँख मंजिल से नहीं हटती तो वह उसे पा ही लेता है।

मेरी एक निकट-सम्बन्धी लड़की मेडिकल कॉलेज में दाखिल होना चाहती थी। दुर्भाग्य से उसकी आयु दो महीने कम निकली, वह दाखिल नहीं हो पायी और रोने लगी। मैंने उसे समझाया कि डाक्टर ही बनना चाहती हो तो होमियोपैथी कर लो, मेरी बात सुनकर वह आँसुओं में मुसकरा दी। लेकिन बात हँसी की नहीं। [illegible] धन अर्थ और ख्याति दोनों दृष्टियों से एलोपैथिक [illegible] और जनता की सेवा भी ये कम नहीं करते।

यह जानकर खुशी हुई कि तुम फिर दूसरे प्रान्त से एम० ए० करने की सोच रही हो। पर यह जानकर खेद भी हुआ कि [illegible] तुम अपने आप को असफल पाती हो और तुम्हें जिन्दगी [illegible] मालूम होती है। और तुम्हें कवि '—' की पंक्ति—

जिन्दगी थक गयी मौत चलती रही

ही ठीक लगती है।

तुमने मुझसे पूछा है कि कवि '——' की यह पंक्ति क्या सच नहीं ? मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ ? यदि अपने मन की बात कहूँ तो तुम्हें लगेगा कि मैंने सिर्फ तुम्हारी तसल्ली के लिए यह सब लिख भेजा है, पर बात यह है कि मैं स्वभाव से आशावादी हूँ। मेरे मित्र कृष्णचन्द्र ने, जो उर्दू के बड़े लोकप्रिय कथाकार हैं (शायद तुमने उनकी चीजें बंगला में भी पढ़ी हों) एक बार अपना एक कथा-संग्रह मुझे भेंट करते हुए मेरे नाम के आगे (Incorrigible optimist) लिख दिया था। इसी बात से तुम मेरे उत्तर का अनुमान लगा सकती हो। मैं कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी सदा जिन्दगी को खोजता हूँ। मौत मुझे कभी तो नजर नहीं आती, पर जिन्दगी ज्यादा शक्ल में दिखायी देती है। यदि बड़ी मोटी दलील दूँ तो कहूँ कि जरा दुनिया की आबादी देखो——महायुद्ध और महामारियों के बावजूद बढ़ी है या घटी ?

[illegible] कि एक असफल आशावादी एक सफल निराशावादी से बेहतर है।

फिर उन्हीं दिनों मैंने एक ऐसे व्यक्ति [illegible] जहाज के डूब जाने के बाद बच निक[illegible] सवार था और जब किसी तूफान से [illegible] लाले पड़े हुए थे, [illegible] रहा था और जब किसी ने [illegible] कहकर कि मरने से पहले यदि मैं एक सिग[illegible] था।

[illegible]

[illegible]

इलाहाबाद आओ तो बताओ, तभी ठीक राय दे सकता हूँ। रही मेरी बात तो जब मुझे पता चल गया कि दूसरी शादी गलत हुई है और पूरी कोशिश करने के बावजूद मैं निबाह न कर पाऊँगा और एक गलती दूसरी गलतियों को जन्म देगी तो मैंने एक महीने के वैवाहिक जीवन के बाद ही उसे खत्म करने का निश्चय कर लिया और छः महीने के अन्दर-अन्दर दूसरी शादी कर ली।

इसमें बहुत कुछ श्रेय कौशल्या को भी है, जिसने मेरे मित्र-शत्रुओं से मेरी हर तरह की निंदा सुनने के बावजूद मेरा साथ दिया। तुम कभी इलाहाबाद आओ और उसके सामने अपनी समस्या रखो तो शायद वह तुम्हें मुझसे बेहतर परामर्श दे सके।

जिन्दगी में तुम्हारा विश्वास होगा तो तुम अपनी वर्तमान परिस्थिति में भी जरूर रास्ता निकाल लोगी। दुनिया की परवाह मत करो। सारी दुनिया को खुश रख सकना शायद भगवान के हाथ में भी नहीं, हम लोग तो सिर्फ इन्सान हैं।

मैं उस कवि की बात नहीं जानता जो जिन्दगी का साथ निबाहते हुए मौत के गीत गाता है। मैं तो मौत को सामने देखकर भी जिन्दगी का दामन नहीं छोड़ सका। मेरी एक कविता है—'दीप जलेगा,' यदि तुम कवि के रूप में मेरा उत्तर जानना चाहती हो तो उसे पढ़ो। मेरे संग्रह 'दीप जलेगा' की वह अन्तिम कविता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने पिछले दिनों 'कवि भारती' नाम से जो बृहद् कविता-संग्रह प्रकाशित किया है, उसमें भी वह संकलित है।

आशा है तुम मौत की बात सोचने के बदले जिन्दगी की बात सोचोगी, क्योंकि यही तुम्हारे जैसी हठी और इच्छा-शक्ति से सम्पन्न लड़की को शोभा देता है।

सस्नेह,
अश्क

जीवनी के नोट

भेंट हुई तो वह लेख उन्होंने लौटा दिया। उनका खयाल था कि मैंने उन्हें टाल दिया है, मुझे विस्तार से उत्तर देने चाहिएँ थे और अपने साहित्य की दूसरी विधियों के बारे में भी पाठकों की जिज्ञासा शान्त करनी चाहिए थी। मेरे मार्ग-दर्शन को उन्होंने प्रश्नों की एक लम्बी सूची भी दी।

"इन प्रश्नों का उत्तर यदि मैं दयानतदारी से दूँ तो पूरी पुस्तक बन जायगी।" मैंने कहा।

"कोई हर्ज नहीं," शर्मा जी हँसते हुए बोले, "हम 'दृष्टिकोण' के पूरे अंक में छाप देंगे।"

चूँकि श्री नलिनविलोचन शर्मा और मेरे पुराने मित्र श्री वाचस्पति पाठक का भी अनुरोध था, इसलिए इलाहाबाद आकर मैंने फिर एक लम्बा लेख लिखा। उनके सभी प्रश्नों का उत्तर मैं दे पाया, यह तो नहीं कह सकता तो भी अधिकांश प्रश्नों के बारे में मैंने विस्तार से उत्तर दिये और वह लेख १९५७ के 'दृष्टि-कोण' में छपा।

उस लेख के जरूरी हिस्से, जो मेरी किसी दूसरी पुस्तक में नहीं छपे, अथवा इस रूप में नहीं छपे, पुनः एक बार संशोधित, परिवर्धित और सम्पादित कर, मैं यहाँ दे रहा हूँ। जिन पाठकों के पास [illegible] नहीं, वे निश्चय ही इस लेख में [illegible] -सी बातें जान लेंगे। एकाध चीजें, जो अन्यत्र भी छपी हैं, (जैसे 'मेरे आरम्भिक प्रयास') मैंने प्रसंगवश इसमें जोड़ दी हैं। एकांकी के सम्बन्ध में अपने उत्तर काट दिये हैं कि वे दूसरी जगह छप चुके हैं।

समय कलाकार सपने नहीं देखता, वह मर जाता है) पर अब उनमें वह पहले की-सी मस्ती और वेग कहाँ?

*

अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ मैंने एक कवि के रूप में किया। पाँचवीं अथवा छठी श्रेणी ही से मुझे काव्य से लगाव हो गया था। पाठ्य-पुस्तकों में जितनी भी कविताएँ होतीं, वे मुझे सब-की-सब कण्ठस्थ हो जातीं। उन दिनों हमारी पुस्तकों में प्राकृतिक दृश्यों अथवा दूसरे विषयों पर प्यारी-प्यारी नसीहत-भरी कविताएँ होती थीं। यद्यपि कभी-कभी अल्लामा 'इक़बाल' की भी कोई-न-कोई कविता पढ़ने को मिल जाती, पर अधिकांश मुन्शी सूरजनारायण 'मेहर' द्वारा लिखी होतीं। मुन्शी जी की कविताओं में गुलाब पर उनकी कविता की एक पंक्ति :

'खुशबू भीनी भीनी है देखो, खुशबू भीनी भीनी है।'

और 'आज का काम कल पर न छोड़ो' शीर्षक उनकी कविता का एक बन्द :

दवा मैंने माना कि कड़वी बड़ी है,
प्याले में लेकिन यह कब की पड़ी है
लगाओ न कुछ देर बस पी ही डालो।

मुझे आज भी याद है। अल्लामा 'इक़बाल' की कविता 'बुलबुल की फ़रियाद' मुझे बड़ी अच्छी लगती थी। और मुझे स्मरण है कि कण्ठ में दर्द और लय का अभाव होने पर भी मैं सारा-सारा दिन गाता रहता था :

आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना
वो झाड़ियाँ चमन की, वो मेरा आशयाना

उन्हीं दिनों लाहौर से 'आर्य-भजन-पुष्पाञ्जलि' निकलनी आरम्भ हुई। मैं एक आर्य स्कूल में पढ़ता था। उसका पहला संस्करण किसी सहपाठी के पास देख, किसी-न-किसी प्रकार पैसे जोड़कर उसे खरीद लाया। यहीं से मेरी कविता का आरम्भ हुआ। उन भजनों को देखकर और उनकी नकल में तुक से तुक मिलाकर मैं भजन लिखता रहा। दोआबा (व्यास और सतलज के मध्य का प्रदेश) में काव्य तथा संगीत-कला का बड़ा ज़ोर है। गाँवों की बात मैं नहीं जानता, पर नगरों के प्रत्येक मुहल्ले में कोई-न-कोई गलेबाज, बैतबाज, ग़ज़लगो अथवा संगीतज्ञ मिल जायगा। जालन्धर में प्रत्येक वर्ष बड़े दिनों में, वहाँ के पुराने संगीतज्ञ हरवल्लभ की स्मृति में, मेला लगा करता था, जहाँ भारत भर के पक्के गवैये आया करते थे। तीन दिन तक यह संगीत-समारोह रहता और 'देवी तालाब' पर खूब रौनक होती।

क्योंकि शास्त्रीय संगीत के तान-पलटों को समझना मेरे बस के बाहर की बात थी और उर्दू ग़ज़ल को समझने का अभी शऊर न आया था, फिर वहाँ टिकट भी लगता था, इसलिए मैं उस जगह चला जाता, जहाँ दोआबा भर के पञ्जा[illegible] ते। (बैत चार पंक्तियों [illegible] के बैतबाज कहाते हैं।) पञ्जाबी में होने के कारण ये बैत [illegible] थे, वरन् अच्छे भी लगते थे। इन्हीं बैतों को सुन-सुनकर मैं स्वयं अपनी अधकच्ची भावनाओं को बैतों का रूप देने लगा। मैं आठवीं श्रेणी में [illegible] होली के त्योहार पर एक पञ्जाबी कवि-सम्मेलन में [illegible] पर मुझे एक चाँदी का पदक इनाम मिला। इस पुरस्कार से [illegible] और मैंने [illegible] पञ्जाबी कविताएँ लिखीं। [illegible]
गया है :

किते जा ते बैठ के विच्च कुञ्जे
असाँ अपना आप परचायीदा ऐ
कोई सुने न अपनी गल्ल भावें
असाँ दिल नूं दोस्त बनायीदा ऐ

ओसे आख सुना, ते सुन ओह्दी
ओसे ताईं ही असाँ रिझायीदा ऐ
दुख ओस दे सामने फोल जिन्दे !
वक्त कट्टना इह तनहाई दा ऐ

होया की, जे दोस्ताँ अक्ख फेरी
ते कहर ढहिया केहड़ी खुदाईया ऐ
साडा दिल ते 'अश्क' ऐ नाल साडे
ओह्दे नाल ही ग़म्म वटायीदा ऐ †

परन्तु इन पञ्जाबी बैतों का शौक अधिक समय तक न रहा। एक-दो वर्ष बाद ही मैं पञ्जाबी में बैत कहना छोड़कर उर्दू में ग़ज़ल कहने लगा। अपनी पहली ग़ज़ल मैंने 'मुशायरा-ए-रियासी' की पहली मजलिस में पढ़ी,

---

† कभी एकान्त में अक्सर हम अपने ही दिल को [illegible] देते हैं। कोई दूसरा चाहे हमारी बात न सुने, हम अपने दिल को दोस्त बनाते हैं। उससे अपनी कहकर और उसकी सुनकर हम उसे रिझाते हैं। उसी के सामने अपने दुखों को खोलकर हम यह एकांत काटते हैं। क्या हुआ यदि मित्रों ने आँख फेर ली (उनके आँख फेरने से कोई प्रलय नहीं टूट पड़ा) क्योंकि ऐ 'अश्क', हमारा दिल तो हमारे साथ है और उसी के साथ हम अपना सभी दुःख-दर्द बाँट लेते हैं।

जो मेरे उस्ताद जनाब 'आजर' जालन्धरी के एक एडवोकेट मित्र की कोठी पर हर पन्द्रहवें दिन जमती थी। समस्या थी —

हाल है जार किसी शोख़ के सौदाई का

इस गजल के कुछ शेर मुझे अब भी याद हैं :

बस इसी बात पर दॉवा था मसीहाई का
दम तेरे सामने निकला तेरे शैदाई का
सब मुझे जान गये, सब मुझे पहचान गये
फ़ायदा कुछ तो हुआ इश्क़ में रुसवाई का
बन गया देखते-ही-देखते गोया तस्वीर
हाल यह है तेरी सूरत के तमाशाई का
कब इसे होश है दीवार से सर फोड़ मरे
हाल है रहम के क़ाबिल तेरे सौदाई का
जेबो-दामन के किये दस्ते-जुनूँ ने टुकड़े
हाल है जार किसी शोख़ के सौदाई का
अब तो बरपा है ख़यालात का महशर ऐ 'अश्क'
आलमे हश्र है आलम तेरी तनहाई का

[illegible] बैतों [illegible] था।
दोआबा की [illegible], [illegible]
[illegible] अर्थात् [illegible],
[illegible] लोगों के हाथ में थी। दोआबा
[illegible]
[illegible]
[illegible]

करनी पड़ती और यह बात कदाचित् (अनजानेपन ही में) मेरी वर्ग-भावना को स्वीकार न हुई। सातवीं-आठवीं ही में मुहल्ले के एक कवि श्री कश्मीरी-लाल 'अश्क' के संसर्ग से मुझे उर्दू शायरी से लगाव हो गया था। तब शेर समझ में न आते थे, पर मैट्रिक तक पहुँचते-पहुँचते ग़ज़ल मेरी समझ में आने लगी। कॉलिज में बैतबाज़ी कुछ घटिया-सी चीज़ गिनी जाती थी। इसलिए मैं 'कौस' जालन्धरी के सौजन्य से (जो मेरे बड़े भाई के मित्र थे) जालन्धर के प्रसिद्ध कवि जनाब 'आज़र' जालन्धरी की सेवा में उपस्थित हुआ और उन्हें अपनी ग़ज़लें दिखाने लगा।

परन्तु शीघ्र ही मैं ग़ज़लें छोड़कर कहानियाँ लिखने लगा। बात यह थी कि उन दिनों लिखने का कुछ ऐसा उन्माद-सा छाया रहता था कि दिन में दो-दो ग़ज़लें हो जातीं। मैं अपने स्कूल से घर आकर खाना-पीना भूलकर, पुस्तकें मेज़ पर पटक, नयी ग़ज़ल लेकर उस मार्ग में जा खड़ा होता, जहाँ से 'आज़र' साहब गुज़रा करते। वे 'दोआबा हाई स्कूल' में उर्दू, फ़ारसी और ड्राइंग के अध्यापक थे, बस्ती ग़ज़ाँ में (जो उनके स्कूल से चार-छः मील के अंतर पर थी) रहते थे और स्कूल से बस्ती के अड्डे तक दो-अढ़ाई मील का फ़ासला पैदल ही तय किया करते थे। मैं कई बार अड्डा होशियारपुर और कई बार 'माई हीरां दरवाज़े' पर जाकर उनकी प्रतीक्षा करता। जब वे आते तो उनके साथ-साथ बस्ती के अड्डे तक जाता [illegible] ठिठकते अपनी नयी ग़ज़ल उन्हें देता। वे [illegible] कि दूसरे [illegible] ग़ज़ल ठीक करके लौटा देंगे, परन्तु दूसरा दिन तो दूर रहा, कई बार वे सात-सात दिन तक ग़ज़ल देखकर न लाते और कई बार ग़ज़ल देखना भूल ही जाते। मेरा शौक़ तो, जैसा मैंने कहा, बाढ़ पर आयी हुई नदी का-सा था। मार्ग [illegible] और बह निकलना अनिवार्य था।

'आज़र' [illegible] में अच्छे-अच्छे सुन्दर लड़के भी थे। उन्हीं में मेरा एक मित्र [illegible] था। 'अख़्तर' उसका उपनाम था, नाम

नहीं। स्कूल तो हमारे अलग-अलग थे—वह 'गवर्नमेण्ट हाई स्कूल' में पढ़ता था और मैं 'दयानन्द ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल' में। पर काव्य और हॉकी-प्रेम हम दोनों में एक जैसा था। उसके मुहल्ले में मेरा एक मित्र भी रहता था। फिर उस्ताद में भी साझा हो गया। हम अवकाश के अधिकांश समय इकट्ठे रहते। कवि-सम्मेलनों में साथ-साथ जाते। द्वेष तो नहीं, पर एक दूसरे से स्पर्द्धा अवश्य रखते।

मुझे इस स्वीकारोक्ति में संकोच नहीं कि 'अख्तर' न केवल रूप-रंग में मुझसे अच्छा था, वरन् पढ़ता भी बड़ी अदा से था। मेरे चेहरे पर तो स्कूल के दिनों में यतीमी बरसती थी—आकृति पर कुछ अज्ञात-सा सहम, घुटा हुआ सिर, नंगा माथा, लम्बी चोटी, टखनों से ऊँचा उटंग पायजामा, पाँव प्रायः नंगे—पढ़ लेता और दाद भी पाता, परन्तु 'अख्तर' के रूप-रंग और अदा का मेरे यहाँ अभाव था।

'अख्तर' सदैव छैला बना रहता। विपन्नता तो उसके यहाँ कदाचित् मेरे घर की अपेक्षा कहीं अधिक थी, पर उसे पहनने का ढंग आता था—विशेषकर मित्रों की चीजें पहनकर अपनी छवि को द्विगुन करने का—वह गाता न था, पर पढ़ता ऐसा था कि अनायास दाद देने को जी चाहता।

मैं निश्चित रूप से 'अख्तर' की अपेक्षा अच्छा लिखता। कई बार तो मैं ही उसे लिखकर देता। [illegible] जब उसे मिलती तो मुझे प्रसन्नता भी होती और दुख भी।

'आज़र' साहब मेरी ग़ज़लों को बड़े इत्मीनान से भुला देते, परन्तु 'अख्तर' की ग़ज़लें [illegible] ही [illegible] ग़ज़ल [illegible] [illegible] माँग न की, परन्तु [illegible] दूसरे-तीसरे [illegible] 'आज़र' साहब कभी ऐसा न करते।

में रोज 'मोरी दरवाजे' पर उनके रास्ते में जा खड़ा होता, मील-डेढ़ मील पैदल उनके साथ-साथ जाता और रोज निराश लौटता। शुभकामना पर संकोचवश मुँह से कुछ न कहता। उन्हीं दिनों जब उन्होंने मेरी दो-एक ग़ज़लें गुम ही कर दीं, मैंने फ़ैसला किया कि मैं कहानियाँ लिखूँगा, जिन्हें न किसी को दिखाने की आवश्यकता रहेगी, न किसी से संशोधन कराने की।

पहली कहानी, जो मैंने इस फ़ैसले के तत्काल बाद लिखी, उसका नाम था 'याद हैं वो दिन !' कहानी उर्दू में थी, क्योंकि उस समय पञ्जाब में हिन्दी का नाम भी न था। उर्दू के भारी-भरकम शब्द इस कहानी में जहाँ-तहाँ अनगढ़ नगीनों-से जड़े थे। 'याद हैं वो दिन' ही को मैं अपनी पहली कहानी कहूँगा, क्योंकि यद्यपि इससे पहले भी मैंने गद्य में लिखने का प्रयास किया था और जब आठवीं श्रेणी में पढ़ता था तो एक जासूसी उपन्यास तक लिखने की कोशिश की थी, परन्तु कोई चीज सिरे न चढ़ी थी। यह पहली कहानी थी जो मैंने पूरी-की-पूरी लिखी। कहानी के आरम्भ की चन्द पंक्तियाँ देखिए :—

> 'याद हैं वो दिन, जब सुबह के वक्त इधर आफ़ताब अपनी सुनहरी किरणों से सारे जहान को रौशन कर देता, उधर तू अपनी चाँद-सी सूरत लिये, सिर पर घड़ा उठाये, नाज़ो-अदा से कुएँ पर आती। मैं तुझे उल्फ़त से देखता, हाँ. . . .हाँ मुहब्बत से देखता।'

इस कहानी का 'मैं' एक [illegible] है जो अपने गाँव की एक लड़की से प्रेम करता है। [illegible] छिपकर उसके दर्शन से अपनी आँखों की प्यास बुझाता है। [illegible] भौंरे' अर्थात् चक्कर खाने वाला प्रेमी कहते हैं, कुछ उसी प्रकार का वह आशिक है। लड़की भी उसकी ओर आकर्षित होती है। उसे दरस ही का नहीं,

परस का भी अवसर प्राप्त होता है। परन्तु क्रूर नियति को (वहाँ तो शब्द 'फ़ल्के-नाहंजार' है) क्योंकि प्रेमियों का मिलन-सुख एक आँख नहीं भाता, इसलिए उस साँझ के दूसरे ही दिन, जब उसे अपनी प्रेयसी को आलिंगन में लेने का अवसर मिलता है, उसकी सगाई उसके प्रतिद्वन्द्वी से हो जाती है। प्रेयसी ऐन शादी के अवसर पर छुरा भोंककर मर जाती है और मरते-मरते अपने प्रेमी से कहती है कि वह स्वर्ग में उसकी प्रतीक्षा करेगी और प्रेमी महोदय वही छुरा लेकर निर्जन की ओर चल देते हैं। अन्तिम पंक्तियाँ देखिए :—

> "मैं सोया, आवाज़ आयी—'जन्नत में आपकी मुन्तज़िर रहूँगी।' घबराकर उठा। हवा का एक झोंका आया। उसकी सरसराहट में वही अल्फ़ाज़ सुनायी दिये—'जन्नत में आपकी मुन्तज़िर रहूँगी।' मुझे निराश न होना चाहिए। मेरी प्यारी जन्नत में मेरा इन्तज़ार कर रही है। ऐ ख़ंजर! ऐ मेरी प्यारी के क़ातिल ख़ंजर! आ, आ और मेरे सीने में दूर तक डूब जा और मुझे भी वहीं पहुँचा दे जहाँ. . . ."
>
> और कहानी समाप्त हो जाती है।

आज मुझे इस कहानी को पढ़कर हँसी आती है, परन्तु उस समय मैं इसे अपना मास्टर-पीस समझता था। बहरहाल अश्क ने जब यह कहानी सुनी तो उसे बहुत पसन्द आयी। उसने कहा, 'आओ हम इसे नज़्म करें!' और हम दोनों ने मिलकर उसे कविता का [illegible]। [illegible] की आवश्यकता नहीं कि इस पर विशेष [illegible]। जब पूरी-की-पूरी कहानी [illegible] साहब के पास ले गया। [illegible]

[illegible]

[illegible]

की साहित्यिक तथा पत्रकार दुनिया में 'गुरु घण्टाल' का बोलबाला था और वह पत्र हमारी कल्पना का चरम-शिखर था। मुझे पूरी आशा थी कि वह कवितामय कहानी 'गुरु घण्टाल' के विशेषांक में कभी न छप पायेगी। परन्तु दूसरे ही सप्ताह जब 'अख़्तर' 'गुरु घण्टाल' का विशेषांक लाया तो उसमें पूरे दो पृष्ठों पर मसनवी की तर्ज़ में लिखी हुई वह पद्य-कथा छपी थी।

मुझे अच्छी तरह याद है, मैं उस रात एक पल को भी नहीं सो सका। मेरी माँ ने मेरे सिर में एक-दो बार ख़शख़ाश का तेल भी लगाया, मेरी कनपटियाँ भी सहलायीं, परन्तु जब वे रात के पिछले पहर फिर उठीं तो मैं पूर्ववत् जाग रहा था। तब उन्होंने चिन्ता के स्वर में पूछा, "क्या बात है, तू सो क्यों नहीं रहा?" मैंने कहा, "मैं क्या बताऊँ, तुम समझ न पाओगी।"

*

इस कहानी से एक प्रकार मेरी शायरी ख़त्म और कहानी शुरू होती है। ग़ज़ल तो सेकेण्ड ईयर तक चली, पर वह उत्साह न रहा। इस कहानी के छपने से (चाहे 'अख़्तर' के नाम ही से हो) मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि मेरी चीज़ें छप भी सकती हैं। इसलिए मेरा वह निश्चय कि गद्य में लिखूँगा और भी पक्का हो गया। मैंने एक और सामाजिक कहानी लिखी और उसे दैनिक 'प्रताप' लाहौर के सण्डे एडीशन में भेज दिया। उसी सप्ताह वह छप गयी। फिर तो 'प्रताप' के सण्डे एडीशन में बाबू उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जालन्धरी की कहानियाँ नियमित रूप से छपने लगीं। कहानियों के शीर्षक मेरे नाम ही की तरह सारे हास्यास्पद होते थे — 'सीरत की पुतली उर्फ़ नायका बीबी' अथवा 'शहीदे-नाज़ उर्फ़ पर्दे की बला,' 'मुझे मिला — वह कौन?' आदि-आदि। किन्तु उन दिनों यही

अद्वितीय लगते थे। मैं अपने आप को महान कहानी-लेखक समझता था। 'अख्तर' अपने मुकाबिले में मुझे अकिंचन दिखायी देने लगा था और इन कहानियों के छपने से मेरा हीन-भाव सर्वथा विलुप्त हो गया था।

किन्तु इनमें से एक भी कहानी किसी संग्रह में शामिल नहीं हो सकी — कॉलेज के दिनों में छपने वाले संग्रह में भी नहीं — स्कूल के दिनों में लिखी चीज़ें कॉलेज तक जाते-जाते मेरी दृष्टि से उतर गयी थीं।

'माई हीराँ दरवाज़े' पर जाकर 'आज़र' साहब की प्रतीक्षा करना मैंने छोड़ दिया था और क्योंकि लिखने के जोश में कमी न आयी थी, इसलिए ग़ज़लें छोड़, दिन-रात कहानियाँ लिखने लगा।

*

पञ्जाब के साहित्यिक क्षेत्र में कहानी-लेखक के रूप में कुछ ख्याति पाने पर जब मैं एक बार बस्ती ग़ज़ाँ गया तो 'आज़र' साहब से भी मिला। बातों-बातों में उन्होंने शिकायत की, "तुमने ग़ज़ल लिखना क्यों छोड़ दिया, तुममें बड़ी सम्भावनाएँ थीं।"

मैं चुप रहा, उन्हें क्या उत्तर देता?

आरम्भिक प्रभाव

'अख्तर', 'क़ैस' और 'आज़र' साहब के अतिरिक्त मेरी आरम्भिक ज़िन्दगी पर जिन लोगों का प्रभाव पड़ा, [illegible]

'बाबू जी' पञ्जाबी भाषा में बिगड़कर शायद 'बाऊ जी' हो गया है। मुझे याद नहीं, मैंने कभी उनसे आँखें मिलाने का साहस किया हो। वे साहित्यिक नहीं थे, पर उन्हें किस्से-कहानी पढ़ने का जरूर शौक रहा होगा, क्योंकि एक बार, जैसा कि मैंने पहले कहीं लिखा है, जब माँ दालान में पड़ा एक पुराना सन्दूक साफ़ कर रही थीं तो उसमें से मोतीराम और मिलखीराम के किस्से और अलिफ़-लैला की एक प्रति मिली। मोतीराम और मिलखीराम उस जमाने के मशहूर किस्सा-गो थे। मोतीराम का बारहमासा बड़ा लोकप्रिय था। पिता जी की आवाज में बड़ा लोच था और कभी-कभार जब मौज में आते, उन किस्सों का एक-आध बन्द गाते। मुझे याद है, जब मैं कभी उनके पास गया होता और वे स्टेशन पर काम करते हुए, कोई एक-आध पंक्ति अलाप उठते तो दूर-दूर तक उनकी सुरीली, सोज़ और लोच भरी आवाज गूँजती चली जाती और मैं दम साधे उनके फिर गा उठने की प्रतीक्षा किया करता।

यद्यपि मेरे पिता स्वयं कुछ ज्यादा न कर पाये थे, पर अपने लड़कों के बड़ा बनने की बातें वे निरन्तर किया करते थे। "कुछ भी करो," वे कहा करते थे, "पर जो करो उसे कमाल पर पहुँचा दो।" और जब उन्हें पता चला कि मैं कविता करता हूँ तो मेरे अटपटे प्रयास बड़े शौक से सुनते और मुझे दुनिया में सबसे बड़ा शायर बनने का परामर्श देते। आठवीं कक्षा में था तो नौ-दस महीने मलेरिया से बीमार रहा। डाक्टर के परामर्शानुसार 'बाऊ जी' के पास मकेरियाँ कांढ़न के स्टेशन दुसूआ चला गया। वहीं उन्हें पहली बार मेरे कविता लिखने की बात का पता चला। तब वे मुझे अपने एक मित्र के पास ले गये, जो पञ्जाबी के उस्ताद थे और मैं बाकायदा पगड़ी और मिठाई देकर उनका शागिर्द बन गया। मेरी परीक्षा लेने के लिए समस्या-पूर्ति की जो पंक्ति उन्होंने दी, वह आज भी मुझे स्मरण है :—

की चाहीदे गुरू बनान लग्गियाँ

'आजर' साहब की शागिर्दी में जब मैं ग़ज़लें लिखने लगा तो 'चाऊ जी' जब भी जालन्धर आये, उन्होंने हमेशा मुझसे ग़ज़लें सुनीं। ग़ज़लें इश्क़िया होती थीं। उन्होंने कभी नहीं पूछा कि साले किससे इश्क करता है? हमेशा उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी और कहा कि अगर तेरे मन में इच्छा-शक्ति होगी तो तू जरूर बड़ा शायर बनेगा। मैं नहीं जानता उन्होंने शेक्सपियर अथवा टैगोर का कुछ पढ़ा था अथवा केवल उनका नाम ही सुना था, पर मुझे वे हमेशा शेक्सपियर अथवा टैगोर बनने के लिए उकसाया करते। "दुनिया में कुछ भी मुश्किल नहीं," वे कहा करते थे, 'एक आदमी का बच्चा जो कर सकता है दूसरे आदमी का बच्चा भी जरूर ही वह कर सकता है।" और उन्होंने अजाने ही मुझे अपने जन्म-स्थान की संकुचित दुनिया को छोड़कर भारत के विशाल प्रांगण में किस्मत आजमाने की प्रेरणा दी। बी० ए० [illegible] 'चाऊ जी' स्वभाव [illegible] की याद बराबर मुझे कोंचती रही, लेकिन यह भी ठीक है कि उनके परामर्श सदा मेरा पथ उजेला करते रहे और जो थोड़ी-बहुत सफलता मुझे मिली है, उसका श्रेय उन्हीं को है, जिन्होंने मुझे अजाने ही बड़े सपने देखना और उन्हें पूरा करने के लिए उतना ही बड़ा श्रम करना सिखाया।

*

कॉलेज के दिनों में मेरी [illegible]। [illegible]पुर के दीवान का लड़का था — गोरा-चिट्टा, [illegible], [illegible] सुन्दर और मस्त। [illegible] था। यद्यपि पढ़ाई में मुझसे [illegible] था, इसलिए जब मुझे

नाटक में मैंने और उसने इकट्ठे पार्ट किया तो हममें दोस्ती हो गयी — उन दिनों की याद करता हूँ तो मेरी स्मृति में सिगरेट के धुएँ से भरा एक छोटा-सा कमरा घूम जाता है, जिसमें फ़र्श पर जाजम बिछा है, सामने एक चौकी है और बैठने की जगह को छोड़कर शेष सारी जगह किताबों और पत्र-पत्रिकाओं से भरी पड़ी है।

मैं एक दिन 'श्रीमती मंजरी' की रिहर्सल के बाद हसीब के साथ उसके घर गया था। एक बार गया और फिर नित्य जाने लगा। वहीं मैंने पहले पहल उर्दू के प्रसिद्ध कवि इक़बाल, हफ़ीज़ और अख़्तर शीरानी की चीज़ें सुनीं; वहीं टैगोर की रचनाओं से रूशनास हुआ; वहीं मैंने अपना पहला नाटक लिखा और वहीं हमने बड़े अदीब और शायर बनने की स्कीमें बनायीं। हसीब स्वयं कुछ नहीं बन सका। मलिक हसीब अहमद ख़ाँ वह ज़रूर कहाने लगा, पर साहित्यिक नहीं बन पाया। जब पिछली बार मैंने उसके बारे में सुना तो वह आल इण्डिया रेडियो में असिस्टेण्ट स्टेशन डायरेक्टर था। अब वह शायद कहीं पाकिस्तान की फ़िल्म इण्डस्ट्री में तीर मार रहा है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके सम्पर्क ने मुझे ज़रूर साहित्यिक बना दिया। कॉलेज की स्मृतियों में हसीब के साथ गुज़ारे हुए डेढ़-दो वर्ष बड़े सुखद लगते हैं। हसीब ने मुझे संसार के कई बड़े साहित्यिकों का परिचय दिया, जिन्हें वर्षों बाद मैंने पढ़ा और उनकी कृतियों में रस भी पाया और उनसे लाभ भी उठाया।

*

बी० ए० करने के बाद मैं लाहौर चला गया और कुछ दिन सुदर्शन जी के सम्पर्क में रहा। सुदर्शन और [illegible] की [illegible] मैंने [illegible] [illegible] [illegible]

अपनी मासिक-पत्रिका 'चन्दन' में भी छापीं। एक की बड़ी आलोचना हुई और मैंने प्रेमचन्द को पत्र लिखा। उन्होंने वापसी डाक से उत्तर दिया, बड़ी प्रशंसा की और मेरा मन बढ़ाया। प्रेमचन्द से मेरा पत्र-व्यवहार उनके देहावसान तक होता रहा। उन्होंने १९३३ में मेरे द्वितीय कहानी-संग्रह की भूमिका लिखी और बाद के चन्द वर्षों में न केवल साहित्य सम्बन्धी, वरन् जीवन सम्बन्धी बड़े ही कीमती मशविरे मुझे दिये, जिन्होंने न केवल मुझे तब साहस बँधाया, बल्कि जिन्दगी की तमाम मुसीबतों से जूझने के योग्य बना दिया। जीवन में जब-जब मुझ पर मुसीबत पड़ी, मुझे प्रेमचन्द के उस पत्र की याद आयी है, जो उन्होंने मरने के कुछ ही महीने पहले लिखा था और मेरे डगमगाते पाँव सदा जम गये हैं।

एकांकी की प्रेरणा

एकांकी लिखने की प्रेरणा कैसे हुई, यह कहना कठिन है, लेकिन नाटक लिखने को मेरा मन लड़कपन ही से होता रहा। बचपन में एक-दो बार रामलीला देखने का सुयोग मिला। तभी से लगता है, मन में नाटकों के प्रति उत्सुकता रही। मैं कदाचित् आठवीं जमात में पढ़ता था, जब मैंने दसूआ में एक एमेचर क्लब का नाटक 'बिल्व मंगल उर्फ़ सूरदास' देखा। मुझे अच्छी तरह याद है कि वह मुझे बहुत अच्छा लगा था और नामदारोगा का पार्ट देख कर स्वयं मेरे मन में अभिनय करने की इच्छा हुई थी। कालेज के दिनों में जालन्धर में एक एमेचर क्लब ने 'बिल्व मंगल उर्फ़ सूरदास' खेला तो मैंने उसमें नामदारोगा का पार्ट लिया। फिर [illegible] में [illegible] का पार्ट भी किया। [illegible] भी विभिन्न कम्पनियों के कुछ नाटक देखे और बाद [illegible] उनमें अभिनय भी किया। मुझे शुरू से ही नाटक [illegible] बड़ा पसन्द है। यदि मैं

कहूँ कि कविता, कहानी, उपन्यास की अपेक्षा अच्छे नाटक मुझे अधिक तल्लीन कर लेते हैं तो ग़लत नहीं। केवल निर्देशन सम्बन्धी पहले दो-एक पृष्ठ बोर करते हैं, एक बार सम्वाद आरम्भ हुए तो मेरी कल्पना के सम्मुख सारा नाटक होने लगता है और मैं पढ़ते समय हर पात्र को उसकी भाव-भंगिमाओं के साथ देखने लगता हूँ। आजकल नाटकों में निर्देशन सम्बन्धी हिदायतें बड़ी लम्बी रहती हैं, पर तब नाटक प्रायः सखियों अथवा अप्सराओं के संगीत से आरम्भ हो जाता था और यद्यपि मैंने पारसी थियेटर कम्पनियों के अधिक नाटक नहीं देखे, पर आग़ा हश्र काश्मीरी से लेकर 'रहमत' तक तत्कालीन सभी नाटककारों के नाटक मैंने बार-बार पढ़े। प्रकट है कि उनका प्रभाव अवश्य ही मन पर पड़ा होगा।

लेकिन मेरे कालिज तक जाते न जाते उसी थियेटर हाल में, जहाँ पारसी कम्पनियाँ आकर अपने नाटक खेला करती थीं, सिनेमा खुल गया और फिर कभी कोई नाटक कम्पनी उधर नहीं आयी। मैं जब नाटक लिखने योग्य हुआ तब पारसी थियेटर बिलकुल मर चुका था। इसीलिए यद्यपि मैंने टैगोर की तर्ज़ पर एक नाटक लिखा था जो अब भी मेरी फ़ाइल में पड़ा है। लेकिन वह मौलिक नहीं है, टैगोर की नकल है। तभी, जब मैं सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' पढ़ने के बाद बार-बार प्रयास करने पर भी नाटक न लिख सका तो कुछ वर्ष मैंने फिर नाटक लिखने की कोशिश नहीं की। १९३१ से ३६ तक यद्यपि मैंने लगातार कहानियाँ लिखीं, पर एक भी नाटक नहीं लिख सका। इस बीच में मैंने उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार इम्तयाज़ अली 'ताज' द्वारा रूपान्तरित अंग्रेजी के दो-तीन [illegible] —'बर्क़ गिरती है।' उसका [illegible] भी मेरे मस्तिष्क में अंकित [illegible] और [illegible] लिखना आरम्भ किया। आरम्भ तो कर दिया, पर आगे न [illegible] और कल्पना

बीमारी के बाद हो गयी। उसकी बीमारी और मृत्यु के दौरान में होने वाली कुछ घटनाओं का ऐसा प्रभाव मेरे मन पर पड़ा कि जब एक दिन मन बहलाने के लिए मैं अपने छोटे भाई के कोर्स का एक अँग्रेजी एकांकी-संग्रह लेकर पढ़ने बैठा तो खत्म करने के बाद कई एकांकी मेरे दिमाग में कौंध गये। मैंने पहले 'पापी' लिखा, फिर 'अधिकार का रक्षक', फिर 'लक्ष्मी का स्वागत'। ये तीनों नाटक लिखते-लिखते मुझे एकांकी लिखने का कुछ ऐसा ढंग आ गया कि जब मैं एक दिन 'बेश्या' का अधूरा मसौदा लेकर बैठा तो वह अपने आप पूरा हो गया। 'बेश्या' मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया था, 'पापी' का पहला मसौदा भी उर्दू में ही लिखा था, लेकिन तभी श्री सोमनाथ चिब लाहौर रेडियो स्टेशन पर नये-नये प्रोग्राम डायरेक्टर नियुक्त हुए और उन्होंने मुझे हिन्दी में नाटक लिखने को कहा। मैंने 'पापी' का हिन्दी मसौदा तैयार किया और वह रेडियो से ब्रॉडकास्ट हुआ। 'अधिकार का रक्षक' और 'लक्ष्मी का स्वागत' मैंने हिन्दी ही में लिखे।

एकांकी और रंगमंच

यद्यपि हिन्दी में एकांकी रोज लिखे जाते हैं और हर साल दर्जनों [illegible] में छपते हैं, लेकिन इस [illegible] को हिन्दी में बड़ी कमी है [illegible] एकांकी को अच्छा मानता हूँ [illegible] जिन दिनों मैंने एकांकी [illegible] [illegible] ? [illegible]

नहीं —— एकांकी लिखना समय और शक्ति का दुरुपयोग मानता है। मैंने इसके उत्तर में (हंस के दूसरे अंक ही में) अपने उस वक्त के अधपके ज्ञान की रोशनी में एक लम्बा लेख लिखा था, जिसमें न केवल एकांकी-कला का सविस्तार वर्णन किया था, बल्कि उसे लिखने की आवश्यकता भी बतायी थी। इसके बाद के अंक में जैनेन्द्र और मुझमें इसी बात को लेकर बहस भी हुई थी। एक बात, जिस पर इस विवाद और बहस-मुबाहिसे में मैंने जोर दिया था, यह थी कि यदि आज हिन्दी का रंगमंच नहीं है तो यह सिद्ध नहीं होता कि कल भी न होगा और यदि कल भारत के आज़ाद होने पर हिन्दी का रंगमंच अपनी वर्षों की नींद से जागेगा और नाटकों की माँग होगी तो कौन से नाटक खेले जायँगे? झख मारकर विदेशी नाटकों का अनुवाद करके उन्हें रंगमंच पर उतारना होगा। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक रंगमंच के अभाव में हमें ऐसे छोटे एकांकी लिखने चाहिएँ जो स्कूल-कालिजों के एमेचर रंगमंचों पर खेले जा सकें। मुझे इस बात का सन्तोष है कि मेरी बात ग़लत नहीं थी। उन्हीं दिनों मेरा नाटक 'अधिकार का रक्षक' लाहौर के एक एमेचर क्लब ने लारेन्स बाग के ओपन-एअर थियेटर में और 'लक्ष्मी का स्वागत' प्रयाग-विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् ने अपने रंगमंच पर खेला था। उसके बाद अब तक तो न जाने मेरे कितने एकांकी भारत भर के स्कूल-कालिजों में हिन्दी स्टेज पर खेले जा चुके हैं।

आज देश का रंगमंच पूरी अँगड़ाई लेकर जाग उठा है। हमें नये नाटकों की अत्यन्त आवश्यकता है। हमारे नाटककारों ने [illegible] और [illegible] लिखा, इसलिए [illegible] अन्य भाषाओं के नाटक [illegible] अथवा उपन्यासों को रूपान्तरित करके खेला जा रहा है। हर साल [illegible] और यह कठिनाई मेरा

आती है। इलाहाबाद ही में पिछले तीन वर्षों में जहाँ चार बंगला नाटक, दो अंग्रेजी नाटक और दो उर्दू नाटक रंगमंच पर खेले गये, वहाँ हिन्दी नाटक केवल तीन ही खेले जा सके। चूँकि खेले जाने योग्य बड़े हिन्दी नाटकों का नितान्त अभाव है और खेलने वाले बहुत ज्यादा हैं, इसलिए प्रेमचन्द के 'गोदान' और शरत के 'विराज बहू' को नाटक का रूप देना पड़ा। जो स्थिति इलाहाबाद की है वही दूसरे शहरों की भी है।

जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत प्रश्न है, मुझे इस बात का पूरा ध्यान रहा है और जय-पराजय[1] के बाद फिर मैंने वैसा नाटक नहीं लिखा जो केवल पाठ्यक्रम में तो आ सके किन्तु खेला न जा सके। १९३८–४० ही में मैंने 'स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' आधुनिक नाटक लिखे थे। 'स्वर्ग की झलक' अपने आधारभूत विचार की कमजोरी के कारण स्टेज पर नहीं आया, लेकिन 'छठा बेटा' बड़ा सफल रहा। बाद के लिखे नाटकों में 'अलग अलग रास्ते' और 'अंजो दीदी' बार-बार सफलता से अभिनीत हुए। 'अंजो दीदी' तो गत वर्ष लन्दन और तोकियो के हिन्दी स्टेज पर भी खेला गया और अभी श्री जगदीशचन्द्र माथुर के एक पत्र से पता

---

१. 'जय पराजय' यद्यपि रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला गया था, लेकिन मैं उसे आज के रंगमंच के लिए नितान्त अनुपयुक्त मानता हूँ। आज उसे खेलने के लिए उसमें काट-छाँट करनी पड़ेगी और यद्यपि आज तक उसकी अस्सी हजार प्रतियाँ बिक चुकी हैं, पर मैंने फिर वैसा नाटक नहीं लिखा। अभी कुछ दिन पहले देश में दो राज्य (उत्तर प्रदेश [illegible]) से एक [illegible] संवाद मिला है जिससे पता चला है कि मेरा यह नाटक कहीं [illegible] से [illegible] खेला जा रहा है, लेकिन निर्देशक ने काट-छाँट करके ही इसे खेला होगा, इसका मुझे पूरा विश्वास है।

कहना है कि 'अलग अलग रास्ते' इसी वर्ष जून के महीने अनूदित होकर मास्को में टेलीविज़न पर दिखाया गया है।

अच्छे नाटकों की आवश्यकता है—इसका यह मतलब नहीं है कि एकांकी की माँग कम हो गयी है। रेडियो-प्रसार के साथ एकांकी की माँग भी दुगुनी-चौगुनी बढ़ गयी है। अच्छे सामाजिक एकांकियों के अभाव में निम्न कोटि के नाटक स्टेज हो रहे हैं और जो नाटक स्टेज हो जाता है उसे साहित्यिक रूप से सफल भी मान लिया जाता है। हालाँकि यह एक बड़ी ग़लत धारणा है। यदि स्टेज पर सफलता ही साहित्यिकता का मापदण्ड होती तो पारसी कम्पनियों के मंच पर खेले जाने वाले नाटक साहित्यिक समझे जाते और उनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रसाद जी ऐसे नाटक न लिख पाते, जिनका मुख्य गुण अभिनेयता नहीं, साहित्यिकता होता।

*

जब रोज़ नाटक लिखे जाते हैं तो क्या कारण है कि अच्छे नाटक नहीं मिलते? इस प्रश्न पर विचार करता हूँ तो अनायास मेरा ध्यान रेडियो की ओर जाता है। हमारे अधिकांश नाटककारों की मूल प्रेरणा आज दुर्भाग्य से रेडियो है। रेडियो-नाटक का माध्यम ध्वनि है। वहाँ दर्शक नहीं, श्रोता होते हैं। इसीलिए रेडियो नाटक में ऐसे सम्वादों की कमी रहती है, जिनमें अभिनय का चमत्कार दिखाया जा सके। लम्बे, रोमानी, भाव-पूर्ण सम्वाद रेडियो के श्रोता को अभिभूत करते हैं। लेकिन वही स्टेज पर आकर दर्शक को उबा देते हैं। उर्दू का प्रसिद्ध कहानी-लेखक मण्टो रेडियो का बेहद सफल नाटककार रहा है। [illegible] के दौरान में उसने पूरे सौ नाटक लिखे, जिनमें [illegible] हैं और आज [illegible] को बहुत कुछ सिखा सकते हैं। मण्टो ज़िन्दा ही था, जब [illegible] की स्टेज पर खेला

गया। अपने उस नाटक को (जिसकी प्रशंसा में रेडियो के श्रोताओं से ढेरों चिट्ठियाँ आती रही थीं) रंगमंच पर देखकर मण्टो इतना बोर हुआ कि बीच ही में उठकर चला गया।

माध्यमों के इस अंतर के अतिरिक्त रेडियो और रंगमंच के एकांकी की कला में बड़ा अंतर है। रेडियो-नाटक में छोटे-छोटे दृश्य बड़ी सफलता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं और कहानी का क्रम टूटता हो तो लेखक स्वयं उद्घोषक के रूप में कूद सकता है। रंगमंच पर ये दोनों बातें लगभग असम्भव हैं। माइक की सहायता से उद्घोषणा की भी जाय तो बात नहीं बनती।

एक तीसरी तरह के एकांकी भी हिन्दी में लिखे जा रहे हैं। ये केवल पढ़े जाने के लिए लिखे जाते हैं। इनमें नाटककार अपने ऊपर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

ये एकांकी रेडियो और पाठ्य-संग्रहों में बड़ी आसानी से लिये जाते हैं। इस प्रकार के संकलनों की बहुलता को देखकर लगता है कि हिन्दी का एकांकी-साहित्य बड़ी त्वरित गति से प्रगति कर रहा है, लेकिन बात, जहाँ तक मैं [illegible] कोई [illegible] रंगमंच पर [illegible] और [illegible] सिद्ध होते हैं और जो नाटक रंगमं[illegible] स्तर प्रायः नीचा होता है। [illegible] रंगमंच का ज्ञान प्राप्त करें और [illegible] रेडियो के लिए लिखकर, फिर रंगमंच पर उसे उतारने की इच्छा [illegible] लिखें, फिर उसे कुछ काट-छाँट [illegible] के लिए दें। [illegible] सफल नाटक जहाँ रेडियो पर [illegible], वहाँ रेडियो का सफल नाटक—जैसा [illegible] रंगमंच पर [illegible] सफल नहीं हो पाता।

उर्दू से हिन्दी में

मैं १९२६ से १९३६ तक लगातार उर्दू में लिखता रहा, लेकिन १९३६ में नियमित रूप से हिन्दी में लिखने लगा। हुआ यों कि १९३४ में हिन्दी-भवन लाहौर से 'भारती' नाम की एक हिन्दी पत्रिका निकली, जिसके सम्पादन हेतु श्री हरिकृष्ण प्रेमी खण्डवा से लाहौर आये, श्री उदयशंकर भट्ट पहले ही से वहाँ थे। इन दोनों कवियों के गिर्द हिन्दी-प्रेमियों का ग्रुप बन गया। मालूम नहीं कैसे प्रेमी जी से मेरा परिचय हुआ, लेकिन हममें काफ़ी घनिष्ठता हो गयी। उन्हीं के साथ में भट्ट जी, माधव जी तथा श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के यहाँ आने-जाने लगा। हिन्दी की ओर खींचने में प्रेमचन्द ने भी परोक्ष रूप से बड़ी सहायता की। १९३३ में उन्होंने मेरे दूसरे उर्दू कहानी-संग्रह 'औरत की फ़ितरत' की भूमिका लिखी। पर उनसे मेरा पत्र-व्यवहार सदा उर्दू में होता रहा। यह सच है कि वे मुझे 'हंस' में लिखने को कहते थे और उन्होंने मेरी एक छोटी कहानी स्वयं अनुवाद करके अपने साप्ताहिक 'जागरण' में भी दी थी, पर मैं हिन्दी में प्रेमी जी के सम्पर्क में आने के बाद ही लिखने लगा। १९३४ में श्री माखनलाल चतुर्वेदी एक बार प्रेमी जी के पास कुछ दिनों को आकर ठहरे। प्रेमी जी के कहने पर मैंने उन्हें अपनी कुछ अति लघु कथाएँ सुनायीं। वे उन्हें इतनी पसन्द आयीं कि उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उन्हें हिन्दी में उल्था करके 'कर्मवीर' में भेजूँ। मैंने हिन्दी बी० ए० तक पढ़ी थी। एफ़० ए० तक संस्कृत भी पढ़ी थी, लेकिन दस वर्ष तक उर्दू में लिखते रहने के कारण हिन्दी में लिखने का अभ्यास छूट गया था [illegible] आम हो [illegible]। प्रेमी जी [illegible] कहानियाँ [illegible] 'कर्मवीर' में छपीं। 'कर्मवीर' [illegible] 'हंस' [illegible] भी उर्दू से हिन्दी में की-

उस ज़माने में 'विशाल भारत' की बड़ी चर्चा थी। मैंने अपनी उस समय की अच्छी समझी जाने वाली एक कहानी हिन्दी में अनुवाद करके 'विशाल भारत' को भेज दी। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी उन दिनों उसके सम्पादक थे। उन्होंने श्री अज्ञेय को नया-नया डिस्कवर किया था और हर किसी को उनकी कहानी 'पैगोडा वृक्ष' नुस्खे के तौर पर दिया करते थे। उन्होंने न केवल मेरी कहानी लौटा दी, बल्कि मेरे लिए भी वही नुस्खा तजवीज कर दिया कि मैं वैसी कहानियाँ लिखने के बदले 'पैगोडा वृक्ष'-सी कहानियाँ लिखूं। मुझे उनका कहानी लौटाना इतना बुरा न लगा, जितना यह नुस्खा तजवीज करना। इसी बात को लेकर मैंने उन्हें एक बड़ा सख्त पत्र भी लिखा। उन्होंने एक लम्बी-सी औपचारिक क्षमा मांग ली कि यदि उनकी बात मुझे बुरी लगी है तो मैं क्षमा कर दूं। मैं चुप हो गया।

प्रेमचन्द जैसी कहानियां लिखते और पसन्द करते थे, वह उस कहानी से भिन्न थी। इसीलिए मैंने वह 'हंस' को नहीं भेजी थी। चतुर्वेदी जी के व्यवहार से मैं [illegible]—मैं हिन्दी में नहीं लिखूंगा। लेकिन हिन्दी का दामन छोड़ने से पहले मैंने एक प्रयास और कर देखने की सोची और कहानी को 'सरस्वती' में भेज दिया। यह भी लिखा कि मैं उर्दू का [illegible] और हिन्दी में [illegible] चाहता हूँ। आशा है आप मुझे प्रोत्साहन देंगे। सरस्वती का सम्पादन उन दिनों ठाकुर श्रीनाथ सिंह करते थे। उन्होंने न केवल कहानी की प्रशंसा की, बल्कि मेरा चित्र भी मांगा। मैं तब लॉ कॉलेज में पढ़ता था। कॉलेज के लिए जो फ़ोटो मैंने खिंचवाया था, वही उन्हें भेज दिया। मेरे उल्लास की कोई सीमा न रही, जब वह कहानी सरस्वती में सचित्र छपी और उस पर मैंने अपना वह पुराना [illegible] लिखा था—[illegible] कहानी। [illegible] में यह मेरी [illegible] हिन्दी

भाषा-भाषियों का ध्यान मेरी ओर खिंचा, यह सही है। उर्दू से हिन्दी में आने के लिए मैं ठाकुर श्रीनाथ सिंह का सबसे ज्यादा आभारी हूँ, क्योंकि यदि वे उस कहानी को लौटा देते तो शायद मैं फिर वह पग न उठाता, जो हिन्दी में कहानी लिखने के लिए मुझे उठाना पड़ा था और सम्भवतः उर्दू में लिखे जाता। दूसरी ही कहानी 'निशानियाँ' हंस में छपी और प्रेमचन्द जी ने बम्बई से उसकी प्रशंसा में मुझे पत्र लिखा। बस मैं हिन्दी में चल पड़ा।

उन्हीं दिनों प्रेमी जी के यहाँ मेरा परिचय श्री वाचस्पति पाठक से हुआ। पाठक जी मेरी ही तरह फक्कड़ हैं। हम दोनों जल्दी घुल-मिल गये। यदि प्रेमी जी, माखनलाल जी, प्रेमचन्द और श्रीनाथ सिंह ने हिन्दी की ओर आने में मेरा साहस बढ़ाया तो पाठक जी ने वहाँ जमने में मेरी बड़ी सहायता की। उन्होंने 'भारती भण्डार' से न केवल मेरा पहला उपन्यास 'सितारों के खेल' छापा, वरन् 'गिरती दीवारें' और दूसरी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। उन दिनों किसी लेखक की पुस्तक का 'भारती भण्डार' से प्रकाशित होना ही उसे हिन्दी के उच्चकोटि के लेखकों की पंक्ति में बैठाने के लिए काफी था। इन तमाम वर्षों में पाठक जी ने न केवल एक सहृदय प्रकाशक, वरन् सच्चे मित्र की तरह मेरी सहायता की है।

हॉबी

जहाँ तक मेरी हॉबी का सम्बन्ध है, [illegible] ने कभी मुझे मनोविनोद के लिए कोई [illegible] का शौक सदा रहा। अब जिसे हुए मैं [illegible] मेरा व्यवसाय भी बन गया है।

कभी बचपन में मुझे फूल-पत्तों का बड़ा शौक था। हमारे घर में बाग-बगीचे की कोई गुंजाइश न थी। गमलों के लिए पैसे न थे। पुराने टीन के कनस्तरों में तुलसी, गुलजोत, बेला इत्यादि ऐसे ही सदाबहार के दो-चार पौधे लगा रखता था। बहार में गेन्दा भी लगा लेता था और बरसात में काले दाने के बीज डाल देता था। चन्द दिनों में बेल बढ़ जाती और फिर भरसक बादामी के भोंपू जैसे, विष्णुकांता के फूलों से जरा बड़े, नीले-नीले फूल लहलहा उठते थे। लाहौर के मकान की छत पर भी ऐसे ही गमले मैंने सजा रखे थे। दिल्ली में आया तो मेरे क्वार्टर में मधुमालती की बेल लगी थी। मुझे वह इतनी अच्छी लगी कि जब इलाहाबाद में कॉटेज मिली तो सबसे पहले मैंने मधुमालती की बेल लगायी, फिर मेंहदी की बाड़ लगाकर क्यारियाँ बनायीं, फिर छोटा-सा बगीचा लगाया। शुरू-शुरू में स्वयं खुरपी लेकर उसमें काम करता था, पर धीरे-धीरे व्यस्तता बढ़ती गयी। बगीचे में तरह-तरह के बड़े सुन्दर फूल खिलते हैं, मन होता है, सुबह उठकर नये फूलते पौधे देखूं, पर जिन्दगी कुछ ऐसी व्यस्त हो गयी है कि स्वयं हाथ में खुरपी लेना तो दूर रहा, माली को हिदायत तक देने का समय नहीं मिलता।

कभी जब मैं कालिज में था, [illegible] आता था। सोचा करता था [illegible] और मेरा वह शौक मन-का-मन ही में रह गया। [illegible] में फिर [illegible] भिड़ गया [illegible]

वाले नाटककार के नाम से याद किया जाता। भविष्य में इस कानेपन से कौन-सी पेचीदगियाँ पैदा हो जातीं, इसकी कल्पना कभी-कभी करता हूँ तो कहानी लिखने को मन होता है।

'वन्देमातरम' की नौकरी के दिनों में मुझे गाने-बजाने का भी शौक हुआ। पत्नी का स्वर बड़ा अच्छा था। मैं भी महीनों हारमोनियम पर गला फाड़-फाड़कर मुहल्ले वालों की नींद हराम करता रहा। सितार और दिलरुबा ख़रीदकर कई तरह से चीज़ बना-बनाकर बैठता रहा। पुस्तकों की मदद से तो संगीत में निपुण हुआ नहीं जा सकता और इतने पैसे अथवा अवकाश नहीं था कि बाकायदा किसी संगीत विशेषज्ञ से अथवा संगीत विद्यालय में शिक्षा पाता। सो उन हारमोनियम और सितार-दिलरुबा का जो हश्र हुआ उसकी याद अब भी मन में टीस उठा देती है।

श्रीनगर में मुझे बैडमिण्टन का भी शौक हुआ और डेढ़-दो वर्ष मैं बाकायदा बैडमिण्टन खेलता रहा। लेकिन श्रीनगर छोड़ने के बाद फिर उसकी सुविधा नहीं मिली। दिल्ली में वालीबॉल खेलता रहा और सर्विस करने की ऐसी प्रैक्टिस मुझे हो गयी कि विपक्षी दल की दुर्बलतम जगहों पर बॉल फेंक सकूं, लेकिन दो-ढाई वर्ष बाद बम्बई चला गया और वाली-बॉल दिल्ली ही रह गया। बम्बई में टेबिल टेनिस में रुचि हुई, लेकिन बम्बई छूटने पर फिर उसकी सुविधा नहीं मिली। जब तबीयत बड़ा ज़ोर मारती तो सीमेन्ट के फ़र्श पर चाक से लकीरें डाल, दो कुर्सियों के पायों से नेट बाँधकर टेबल टेनिस का मज़ा ले लेता हूँ। पिछली सर्दियों में फिसल गया, बायें हाथ की अनामिका पर ज़ोर पड़ गया. [illegible] मल रहा [illegible] मिले खाली [illegible] खाली मिल जाय तो टेबिल टेनिस की मेज [illegible] है जो मैं अपने वर्तमान स्वास्थ्य में खेल सकता हूँ।

मित्र पूछते हैं कि मैं किसी क्लब आदि का सदस्य क्यों नहीं बन जाता, लेकिन मुश्किल यह है कि मेरा मन शाम के चार बजे के बाद ही लिखने में लगता है। लिखवाना न हो, स्वयं लिखना हो तो मैं चार बजे के बाद ही जम कर बैठ सकता हूँ। इससे पहले मेरा मन भटकता रहता है और जम नहीं पाता। प्रकट है कि शाम को काम करने वाले के लिए किसी तरह के खेल में हिस्सा लेना या किसी क्लब में जाना लगभग असम्भव है। घर में प्रबन्ध हो तो ऊबने पर दो-एक गेम खेले ही जा सकते हैं।

हाँ, गप्प लड़ाना मुझे बड़ा प्रिय है। बराबर के मित्र हों तो घण्टों बेथकान गप्प लड़ा सकता हूँ, लेकिन इधर पुराने दोस्त बम्बई में बैठे हैं और नये मेरी तबीयत के फक्कड़पने, साफ़गोई और हास्य-विनोद को पसन्द नहीं कर पाते और बहुत जल्द नाराज़ होकर गालियाँ देने लगते हैं। मैं देखता हूँ कि जिनको मैं बहुत चाहता हूँ, वे भी मुझसे नाराज़ हैं और मुँह पर चाहे कुछ न कहें, पीठ पीछे गालियाँ देते हैं। आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत मेरा सफल हो जाना भी इसका कारण हो सकता है। साधारण लोगों में असफलता और ग़रीबी के प्रति एक सहज सहानुभूति रहती है। सफलता को आम आदमी माफ़ नहीं कर पाते। महीनों किसी से खुलकर बात करने को जी तरस जाता है। जहाँ इतने साहित्यिक हों, वहाँ कोई नितान्त अकेला महसूस करे—और फिर मेरे जैसा फक्कड़, यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है। पर मैं जिस खुले माहौल में रहा हूँ, उसका मेरे इर्द-गिर्द नितान्त अभाव है। यहाँ मठाधीश हैं, या फिर छोटी-छोटी टोलियों के बड़े नेता। काम [illegible], खिलाया या लौटा [illegible] मैं [illegible] नहीं हूँ। और शत्रु को भी [illegible] निकट नहीं देखने [illegible] खुलकर, [illegible] मन की बात कह सकता है, गाली दे या ले सकता

है ? शायद इसका यह कारण भी हो कि नये दोस्त इतनी जल्दी बनाए भी नहीं जा सकते, जो आप की सब खूबियों-खामियों के साथ आपको अपना-लें और गप्पें तब तक नहीं लगायी जा सकतीं, जब तक साथी आपके बिल्कुल अपने न हों, जिनसे आपका कुछ छिपा न हो और न जिनका आपसे कुछ छिपा हो और जो आपकी बातों को उसी रंग में लें, जिसमें कि आप कहते हैं। सो मेरा यह प्रिय शगल भी अरसों से छूटा हुआ है। लिखना या पढ़ना यही मेरा व्यवसाय है, यही शगल। कहानी लिखते-लिखते ऊबता हूँ तो नाटक लिखने लगता हूँ, नाटक लिखते-लिखते थक जाता हूँ तो उपन्यास को हाथ लगा देता हूँ, उपन्यास लिखते-लिखते मन उकताता है तो कविता करता हूँ और इसी में थकन और उकताहट मिटा देता हूँ।

इधर बीमारी के बाद पिछले आठ-दस वर्षों से मैं गर्मियों में पहाड़ चला जाता हूँ। प्रकृति का सौन्दर्य, चाहे फिर वह अंतहीन सागर का हो, अकेले सागर का या खामोश पहाड़ों का—सदा मेरी थकी हुई नसों पर ठण्डे लेप का-सा काम करता है और मुझे लिखने की प्रेरणा देता है। शहर से दूर पहाड़ों पर जाने-आने का कष्ट मुझे हमेशा खला देता है। लेकिन जब मैं एक बार वहाँ पहुँच जाता हूँ तो फिर वापस आने को मेरा मन नहीं करता। मैंने सारी-सारी बरसात नैनीताल में गुजारी है, जब कि नैनीताल का मौसम खत्म हो जाता है और शौकीन लोग नीचे उतर आते हैं। इधर मैंने अपनी बहुत-सी अच्छी चीजें अल्मोड़ा, रानीखेत, नैनीताल, मसूरी, कश्मीर और डलहौजी के प्रवास ही में लिखी हैं।

रुचि और प्रवृत्ति

[illegible] पश्चिमी नाटककारों में मुझे चेखव, ओ'नील, [illegible], ये [illegible] बहुत पसन्द हैं। [illegible], इब्सन और गाल्सवर्दी

को मैंने बड़े शौक से पढ़ा है, लेकिन मैं कभी उनसे इन्सपायर नहीं हुआ। इसके विपरीत चेखव को जब भी पढ़ता हूँ, मुझे नाटक लिखने की प्रेरणा मिलती है, (लिख पाऊँ या नहीं, यह दूसरी बात है।) दर्जन-डेढ़-दर्जन अच्छे नाटककारों में, जिनमें पिरन्डेलो, प्रीस्टले, मॉम, बेरी और कई दूसरे हैं, केवल एक चेखव है, जिसके एक नाटक 'सागर मृणाल' (सी-गल) को मैंने पिछले पन्द्रह वर्षों में छः-सात बार पढ़ा और हर बार नया रस पाया है। 'सागर मृणाल' में कई त्रुटियाँ हैं, पर इसके बावजूद उसकी यथार्थता, गहराई, प्रतीक और उसमें छिपा-छिपा अवसाद तथा जिन्दगी की चिरन्तन ट्रेजेडी मन को बेतरह छू लेती है—उपन्यासकार 'ट्रिगोरिन' का वह लम्बा, छिमाई साइज के चार पृष्ठों पर फैला हुआ लगभग एक ही सम्वाद, जिसे नीना (नाटक की हीरोइन) केवल क्षण भर के लिए दो बार काटती है, मैं बार-बार पढ़ता हूँ, पर मन नहीं अघाता। आज जब कि मैं स्वयं लगभग ट्रिगोरिन की उमर का हूँ, उसकी यथार्थता और भी मन को छूती है। फिर नाटक की वह 'सागर मृणाल'—वह 'नीना', जिनको मैंने जीवन में बार-बार देखा है और जब भी देखा है, मुझे हर बार चेखव के इस महान नाटक की याद आयी है, जो अपनी समस्त त्रुटियों के बावजूद अमर रहेगा। ओ-नील का 'क्षितिज के पार' (बियाण्ड दि होराइज़न) और स्ट्रिण्डबर्ग का 'मौत का नाच' (डान्स आफ डेथ) मुझे बड़े सशक्त लगते हैं। इधर [illegible]

[illegible]

दृष्टि से दोनों एकदम निर्दोष हैं। इनके अतिरिक्त ओ-नील का एकांकी 'नाश्ते के पहले' मेतरलिंक का 'इण्ट्रूडर' और स्ट्रिण्डबर्ग का 'स्ट्रांग' तथा 'आफ़्टर दि फ़ायर' और चेखव का 'बियर' तथा 'ऑन द हार्मफुलनेस आफ़ टोबैको' मुझे पसन्द हैं और बार-बार पढ़ने पर भी उनका मज़ा फीका नहीं पड़ता।

जहाँ तक हिन्दी नाटकों का सम्बन्ध है, उनका प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा। बहुत बाद मैंने डॉ० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर तथा भगवतीचरण वर्मा के नाटक पढ़े। मुझे इनमें कुछ अच्छे भी लगे—विशेषकर भुवनेश्वर के एकांकी 'स्ट्राइक' और 'ऊसर' और माथुर साहब के 'रीढ़ की हड्डी' और 'खण्डहर,' किन्तु उनमें से किसी का प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा, इसलिए कि तब तक मैं अपने नाटकों के लिए निश्चित शैली अपना चुका था। नये एकांकीकारों में मुझे विष्णु प्रभाकर तथा सत्येन्द्र शरत के नाटक प्रिय हैं। लेकिन पश्चिमी नाटकों की तुलना में ये कुछ हल्के पड़ते हैं। दुर्भाग्य से रेडियो ने हिन्दी नाटक को बड़ी हानि पहुँचायी है। रंग-नाटक की अपेक्षा रेडियो-नाटक लिखना आसान है और हमारे युवक नाटककार रेडियो-नाटक लिखकर और बिना उनके स्टेज-वर्शन तैयार किये, उन्हें छपवाकर अपनी आर्थिक समस्या चाहे हल कर लें, रंगमंच को किसी तरह का लाभ नहीं पहुँचा सकते।

कहानीकारों में प्रेमचन्द और सुदर्शन के बाद मुझे जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और राधाकृष्ण की कुछ कहानियाँ बड़ी अच्छी लगती हैं। अज्ञेय की [illegible] बक्सा;' यशपाल की 'पराया सुख', 'राजा,' 'अपनी अपनी ज़िम्मेदारी,' 'आतिथ्य;' राधाकृष्ण की बिहार की महामारी सम्बन्धी कहानी; जैनेन्द्र की 'राजीव और उसकी भाभी,' 'बिल्ली बच्चा,' 'अपना अपना भाग्य;' विष्णु प्रभाकर की 'और धरती घूम रही थी।' इत्यादि कहानियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं। इन लेखकों की

और भी कई कहानियाँ मुझे पसन्द हैं जिनके नाम मुझे याद नहीं आ रहे हैं। नये लेखकों में राकेश, कमल जोशी, राजेन्द्र यादव, शेखर जोशी, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, अमरकान्त, जितेन्द्र, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, शानी, केशवप्रसाद मिश्र आदि मुझे पसन्द हैं। राकेश और कमल जोशी की कला और जितेन्द्र की शक्ति, कमलेश्वर का गठाव और अमरकान्त का चरित्र-चित्रण, शानी और ओमप्रकाश श्रीवास्तव की भाषा का चुटीलापन और शेखर जोशी का हस्तलाघव और राजेन्द्र यादव का यथार्थता पर अधिकार मन को छूता है। इनमें से कौन दम तोड़ देगा या ख्याति पाकर भटक जायगा और कौन साधना के बल पर अपनी शक्ति को बढ़ाकर हिन्दी कहानी का पथ प्रशस्त करेगा, यह कहना कठिन है।

उपन्यासों में प्रेमचन्द का 'निर्मला,' जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र,' अज्ञेय का 'शेखर' (पहला भाग), यशपाल का 'पार्टी कामरेड,' रेणु का 'मैला आँचल,' नागार्जुन का 'नयी पौध,' भैरवप्रसाद गुप्त का 'जंजीरें और नया आदमी' (उपन्यास मुझे पसन्द है नाम जरा भी नहीं) अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र,' कृष्ण बलदेव वैद का 'उसका बचपन' मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं। जोशी जी का 'पर्दे की रानी' कभी बड़ा [illegible] था। अब पढ़ूँ तो कैसा लगे, कह नहीं सकता।

कवियों में निराला, पन्त, महादेवी, बच्चन, अज्ञेय, नरेन्द्र शर्मा की कुछ कविताएँ मुझे बड़ी प्रिय हैं। इधर लगता है कि हिन्दी कविता में कुछ अजब तरह की [illegible] दिखी है। शब्दों, पंक्तियों के ठीक चुनाव और भाषा के संजाव [illegible] के बल खड़े हुए हैं। [illegible] [illegible] [illegible] लगता है कि आज हिन्दी

कविता में कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति है। एक के बाद एक कविता देखते चले जाओ, कुछ हाथ नहीं लगता। अक्सर मन पुरानी प्रिय कविताओं में प्राण पाता है।

इधर बालकृष्ण राव वर्षों की चुप्पी के बाद फिर लिखने लगे हैं। मैंने उनकी पुरानी कविताएँ नहीं पढ़ीं, पर नयी मुझे बड़ी पसन्द आती हैं। श्री राव पुराने कवि हैं और उनकी कविताओं में बड़ी पुख्ता मँजाव है। नये कवियों में भारती, नरेश मेहता, दुष्यन्तकुमार, केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, जगदीश गुप्त, कीर्ति चौधरी, श्रीकान्त वर्मा की कोई-कोई कविता हवा के स्वच्छ झोंके-सी मन को छू जाती है। किन्तु नरेश मेहता ऋग्वेद की ऊँचाई से उतरना पसन्द नहीं करते और दुष्यन्त बड़े अनिश्चित कवि हैं—कोई कविता बड़ी अच्छी लगती है और कोई लगता है कि ऐसे ही घसीट दी है। केदारनाथ सिंह और श्रीकान्त वर्मा अभी युवक हैं। इनमें से कौन आत्मालोचना और साधना के सहारे इस भीड़-भड़क्के में कुछ लिख देगा, कहा नहीं जा सकता। यह भी कौन जानता है कि साधना-रत कोई अजाना, आत्मविश्वासी युवक कवि इन सबको पीछे छोड़कर आगे न आ जायगा और नयी कविता को नये भाव ही नहीं, नया मँजाव देकर सँवार और निखार देगा। नयी कविता की सम्भावनाओं से मैं निराश नहीं हूँ।

उर्दू कहानी लेखकों में राजेन्द्र सिंह बेदी, मण्टो, अस्मत चुगताई, कृष्णचन्द्र, बलवन्त सिंह, मुमताज मुफ़्ती मुझे पसन्द हैं। इनमें से अधिकांश मौन हो गये हैं। कृष्ण और बलवन्त सिंह लगातार लिखते हैं। कभी बहुत अच्छा, कभी निहायत बुरा।

उर्दू कवियों में गालिब, [illegible] साहिर, फ़ैज़ मेरे प्रिय कवियों में से हैं। [illegible] सागर में [illegible] लगातार चौंके लगाते रहते हैं। [illegible] ये दोनों कवि

ग़ालिब की तरह अपने दीवान तैयार करते और शेरों का चुनाव अपने खास आलोचकों के साथ मिलकर करते।

जहाँ तक मेरी अपनी चीज़ों का सम्बन्ध है, मुझे अपनी कविताओं में 'दीप जलेगा' और 'चाँदनी रात और अजगर' सबसे अच्छी लगती हैं। इधर मैंने कुछ नयी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें 'टेरता पाखी', 'दलदली दिन', 'वयस का कातिक,' 'नर्सिसस का उपदेश अपने बेटे को' तथा 'विशाखापटम के सागर-तट पर' मुझे प्रिय हैं; उनके बाद कुछ कहानियाँ और नाटक। उपन्यासों से मैं उतना सन्तुष्ट नहीं। कहीं उमर और समय की कैद न होती तो मैं 'गिरती दीवारें,' 'गर्म राख,' और 'बड़ी बड़ी आँखें' को फिर से लिखता और नौ-दस उपन्यासों की एक श्रृंखला में बाँध देता और शायद सन्तोष पा जाता। अब तो मुझे ये उस विशाल कैनवस के, जिस पर मैं अपनी अनुभूतियों को चित्रित करना चाहता था, केवल कुछ टुकड़े से लगते हैं। पाठकों को प्रिय हैं, इसलिए मैं भी सन्तुष्ट हूँ। आलोचकों की बात सुनता तो शायद लिखना असम्भव हो जाता।

आलोचक

[illegible]

उसे अच्छा आलोचक मानता हूं जो अपने प्रियतम मित्र की कटु आलोचना और अपने घोरतम शत्रु की प्रशंसा का साहस और ईमानदारी रखता हो; जिसको विषय पर पूरा अधिकार प्राप्त हो और जो ध्वंसात्मक ही नहीं, रचनात्मक (Creative) आलोचना करने की क्षमता भी रखता हो। किसी कृति के दोष तो एक प्रबुद्ध पाठक भी गिना सकता है, पर लेखक को मार्ग वही दिखा सकता है जो विषय का पण्डित हो। हमारे आलोचक कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक—सब पर समानरूप से आलोचना लिखे जाते हैं, जब कि वे इनमें से एक विषय के भी पण्डित नहीं होते। पुरानी कविता से लेकर नवीनतम कविता (देशी और विदेशी दोनों) का जिसने गहरा अध्ययन किया है, वही नये कवि की ठीक आलोचना कर उसका पथ-निर्देश कर सकता है; जिसने न केवल देशी, बल्कि विदेशी नाटकों को खूब पढ़ा, गुना और रंगमंच पर देखा है, वही नये नाटककार को उसकी त्रुटियां बता सकता है। इस विशेषज्ञता के अभाव में उनकी आलोचना और फतवे नितान्त सारहीन सिद्ध होते हैं। फिर इस विशेषज्ञता के साथ सुधी आलोचक के लिए लेखक के मनोविज्ञान, उसकी सीमाओं तथा उसकी कृति की शक्ति और दुर्बलता—उसके गुण-दोषों का जानना, गुणों की प्रशंसा और दोषों की निन्दा करना जरूरी है। कोई आलोचक अपनी शक्ति से कितने लेखक खत्म करता है, यह उसकी सिद्धि का प्रमाण और उसके सन्तोष का विषय नहीं। उसके सन्तोष का विषय यह होना चाहिए कि वह कितने लेखक बनाता है; कितनों को गलत राहों में जाने से बचाता है; कितनों का पथ उजेला करता है। रामचन्द्र शुक्ल के बाद हमारे यहां जो उन जैसा [illegible] आलोचक [illegible] नहीं [illegible] है [illegible] आलोचकों [illegible] आलोचना [illegible] आलोचक [illegible] पत्र में मेरे किसी उपन्यास या [illegible] होकर प्रशंसा

की है, लेकिन तभी किसी दूसरे प्रगतिशील आलोचक ने उसकी निन्दा कर दी, तब उपन्यास अथवा कहानी पर लिखते समय या वे उस रचना को भूल गये अथवा अपने को बचाकर लिख गये। खैमबाज़ी आलोचना के सम्मुख अपनी भावनाओं को निडरता से कहने का साहस उन्हें नहीं हुआ। ऐसा भी हुआ कि लगातार कुछ वर्षों तक एक प्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक मेरी हर कृति की प्रशंसा करते रहे, उसके बाद कुछ व्यक्तिगत कारणों से वे मुझसे नाराज़ हो गये और फिर आज तक उन्हें मेरी कोई रचना पसन्द नहीं आयी।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, अपने लिए मैंने आत्मालोचना को श्रेयस्कर पाया है। मैं अच्छे-से-अच्छे नाटक, उपन्यास और कहानियाँ पढ़ता हूँ। १९३८ से मैं निरन्तर पुस्तकें खरीद रहा हूँ और मेरे पुस्तकालय में प्रायः संसार के सभी महान नाटककार, उपन्यासकार और कथा-लेखक संगृहीत हैं। उनकी कृतियों को पढ़, गुणों को जानकर अपनी रचनाओं के दोष निकालता हूँ और [illegible] प्रयत्न करता हूँ। १९५८ में मुझमें [illegible] अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा है। आज की कृतियों को १९५८ [illegible] और [illegible] गया है और [illegible] को आज तक लिखा गया [illegible] परखा जायेगा। [illegible] साहित्य सृजने की [illegible] विश्वास है कि हम निश्चय ही [illegible] साहित्य [illegible] खड़ा करेंगे।

नौकरी और साहित्य-सृजन

इधर यह प्रश्न हमारे साहित्यिकों को बड़ा परेशान किये हुए है। जब से हमारे बड़े-छोटे कोड़ियों साहित्यिक सरकार के विभिन्न विभागों में चले गये हैं अथवा फ़िल्मी दुनिया की चकाचौंध में गुम हो गये हैं, यह प्रश्न और भी ज़ोर से उठा है। चूंकि वहां जाकर हमारे साहित्यिक या मौन हो गये हैं या उनकी रचनाओं की धार कुन्द हो गयी है, इसलिए हिन्दी के पाठक और भी चिन्तित हो उठे हैं। व्यक्तिगतरूप से मैंने अपनी बेहतरीन कृतियाँ अपनी नौकरी के ज़माने ही में सृजी हैं। 'छठा बेटा,' 'गिरती दीवारें,' 'चरवाहे,' 'आदि मार्ग,' और 'पक्का गाना' के नाटक और 'काले साहब' की कहानियाँ—सब मेरे नौकरी के दिनों की याद हैं। मेरे विचार में यदि साहित्यिक अपने दायित्व के प्रति जागरूक है तो नौकरी उसे क्षति नहीं पहुँचा सकती। नौकरी यदि उसके लिए थोड़ी आर्थिक सुविधा का साधन है, तब वह उससे प्राप्त निश्चिन्तता में जो भी लिखेगा, वह बहुत अच्छा होगा। इसके विपरीत यदि नौकरी उसका साध्य है—एक नौकरी से दूसरी और दूसरी से तीसरी तक वह फलाँगता चला जाना चाहता है तो उस प्रयास में, जो इस उन्नति के लिए अनिवार्य है, उसके साहित्य को निश्चय ही हानि पहुँचेगी। नौकरी [illegible] [illegible] की बुद्धि [illegible] जरूर है पर असम्भव नहीं। [illegible] वह असम्भव नहीं लगा।

यही हाल फ़िल्म का है। [illegible] होना चाहता है और [illegible] के रूप में फ़िल्मी दुनिया में [illegible]

अयोग्य डायरेक्टरों और प्रोड्यूसरों के हाथों अपमानित होते हैं अथवा कहीं उनके अहम् को चोट पहुँचती है तो वे उन मूर्ख डायरेक्टरों और प्रोड्यूसरों को दिखा देना चाहते हैं कि वे उनसे कहीं बेहतर हैं और वे डायरेक्टर और प्रोड्यूसर बनने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। प्रश्न धन-वैभव का नहीं, अहम् और शक्ति का है। धन-वैभव कई बार अभिनेताओं के पास डायरेक्टरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है, पर वे भी डायरेक्टर और प्रोड्यूसर बनने को लालायित रहते हैं। प्रायः वे सफल नहीं होते। जब सफल होते हैं तो अच्छे अभिनेता नहीं रहते। हमारे साहित्यिक इस प्रयास में साहित्य का दामन छोड़ बैठते हैं। चूँकि मानसिक रूप से वे उस दुश्चक्र के लिए उपयुक्त नहीं होते, इसलिए प्रायः असफल रहते हैं और कुण्ठाग्रस्त हो—न खुदा ही मिला, न विसाले सनम—के मूर्त रूप बने, न इधर के रहते हैं न उधर के और अपने आपको धोखे में रखे कभी साहित्य और कभी फ़िल्म इण्डस्ट्री के दुर्ग को ढाने की घोर प्रतिज्ञाएँ किया करते हैं। सरकारी नौकरियों और फ़िल्मी दुनिया में जाने वाले अधिकांश लेखकों की यही कहानी है। जो इस दुश्चक्र में नहीं पड़े, जिन्होंने उन दोनों को केवल साधन माना, वे उनमें रहकर भी साहित्य सृजन करते रहे हैं। उन क्षेत्रों में जाकर उन्होंने कुण्ठा नहीं अनुभूतियां अर्जित की हैं।

रहा सम्मान की रक्षा का प्रश्न, तो यह सापेक्ष्य है। नौकरी सरकारी हो या गैर-सरकारी, सम्मान को कुछ-न-कुछ तो धक्का लगता ही है। तभी पुरखों ने कहा है—

उत्तम खेती, मध्यम बान।
अधम चाकरी, भीख निदान॥

लेकिन प्रश्न यह है कि नितान्त स्वतंत्र व्यवसाय क्या लेखक अपने सम्मान को अक्षुण्ण रख सकता है? मेरा ख़याल है कि वर्तमान व्यवस्था में शायद

नहीं। फ़िल्मी दुनिया में हर उस व्यक्ति से जो लेखक को कान्ट्रेक्ट दिला सकता है और कान्ट्रेक्ट मिलने पर डायरेक्टर अथवा प्रोड्यूसर से, अपने सम्मान और अहम् को थोड़ा भूलकर, उसे समझौता करना पड़ता है और यदि वह स्वतन्त्र साहित्यिक है तो उसे प्रकाशक, आलोचक, सम्पादक अथवा किसी गुट या पार्टी या अपने सगे-सम्बन्धियों से कई तरह के समझौते करने पड़ेंगे। यदि लेखक अपने साहित्य से समझौता नहीं करता तो मैं इन समझौतों को बुरा नहीं समझता। जब तक किसी ऐसे समाज का निर्माण नहीं हो जाता जिसमें वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र रह सके, तब तक लेखक को उस समाज का अंग होने के नाते, समझौते करने पड़ेंगे। इनकी मार सहकर ही उसे इस कुचक्र को तोड़ना पड़ेगा।

साहित्यिक के सामने प्रश्न यह है कि वह समझौता कहाँ करता है? यदि उस समझौते से वह किसी का स्नेह, सहानुभूति, श्रद्धा, प्यार जीतता है और इस प्रक्रिया में उस समझौते पर उसका अहम् अथवा किंचित् सम्मान चढ़ता है तो मैं बुरा नहीं समझता, पर यदि उसका साहित्य अथवा उसकी साहित्यिक ईमानदारी ही इस पर चढ़ जाती है तो यह बहुत बुरा है और सबसे साहित्यिक की [illegible] नौकरी, [illegible] मित्र, गुट, पार्टी, सगे-सम्बन्धियों यहाँ [illegible] आर्थिक [illegible], [illegible] और अपने उस तथा-कथित स्वातन्त्र्य [illegible] पेचीदा और कठिन है। तलवार [illegible] साधक को तलवार की धार पर [illegible] चाहिए।

मेरी फ़िल्मी नौकरी

[illegible] बनने के सपने लेता था। [illegible] लेकिन १९३६ तक

मेरा मोह टूट गया था। बिना फ़िल्मी दुनिया में गये ही। एक तो मुझे साहित्य-सृजन में रस आने लगा और अन्य सभी रस इसके सामने फीके लगने लगे, फिर किसी एक अच्छी कहानी, नाटक अथवा उपन्यास के सामने एक अच्छी फ़िल्मी कहानी मुझे कमतर महसूस होने लगी, दूसरे स्व० प्रेमचन्द ने बम्बई से वहाँ के जीवन का जो ख़ाका मुझे लिख भेजा, उसने मेरा रहा-सहा भरम भी तोड़ दिया। इस पर भी जो मैंने फ़िल्मी नौकरी स्वीकार की तो केवल व्यक्तिगत कारणों से। मन में मैंने तय कर लिया था कि मैं तीन ही बरस तक वहाँ काम करूँगा। काम किया मैंने केवल दो वर्ष ही। बात बड़ी व्यक्तिगत है। १९४१ में मैंने तीसरी बार शादी की। कौशल्या को मुझमें क्या अच्छा लगा, यह तो वही बता सकती है, पर मिलने से पहले उसके पत्र और मिलने के बाद उसकी बोल-चाल में छिपी अदम्य इच्छा-शक्ति का आभास मुझे मिला था। उसने मेरी कुछ कविताएँ सुनी या पढ़ी थीं। मेरी कोई कहानी या नाटक उसने नहीं देखा था। तब मैं [illegible] टक लिखा करता था और १५० रुपया [illegible] मेरी संगिनी को इतने से सन्तुष्ट रहना [illegible] यह दायित्व मैं अब भी मानता हूँ। पर कौशल्या के रहन-सहन [illegible] भिन्न थे। उनका पूरा [illegible] उन्होंने स्वयं नौकरी कर ली। [illegible] पर मैंने रोका भी नहीं। जब साल-डेढ़-साल बाद स्थिति कुछ [illegible] नौकरी नहीं [illegible] बात नहीं। [illegible] मासिक पर दूसरी [illegible] की। जब उसे छोड़कर [illegible] मैं तय किया कि मैं पहले अपनी संगिनी को यह दिखा दूँ कि मैं [illegible] हूँ। [illegible] था कि [illegible] में नहीं [illegible]

आई० सी० एस० से शादी करनी चाहिए थी जो हजार-दो-हजार रुपया महीना कमाता हो। कौशल्या हँसकर कहती थी कि आप ही उतना कमा लेंगे। वह यह न समझती थी कि रुपया कमाना मेरा उद्देश्य नहीं और जो मेरा उद्देश्य है, उसमें रुपया उतना महत्व नहीं रखता। जब नौकरी साध्य बनने लगी तो मैंने फ़ैसला किया कि मैं उसे एक बार रुपया कमा कर ही दिखा दूँ। मुझे फ़िल्मी दुनिया से बुलावे आते थे, पर मैं जाता न था। आखिर जब वह स्थिति असह्य हो गयी और सौभाग्य से फिर बुलावा आया तो मैं चला गया। मेरी पत्नी ने नौकरी छोड़ दी। मैं सम्वाद-लेखक होकर गया था, पर न केवल मैंने एक ही वर्ष में डेढ़ सौ रुपये मासिक की तरक्की की, बल्कि गीत लिखकर, कहानी देकर, अभिनय करके—कई तरह से रुपया कमाया। साहित्य-सृजन भी करता रहा। मेरी मासिक आय डेढ़-दो हजार हो गयी। दो वर्ष में आठ-नौ सौ मासिक खर्च करके भी मैंने १५००० रुपये जोड़ लिये। तब एक दिन मेरी पत्नी ने गर्व से कहा—'देखा, मैं न कहती थी कि आप ही हजार-दो हजार कमा लेंगे।'

तब मैंने कहा, "कमाने को तो [illegible], मैं [illegible] भी कमा सकता हूँ, पर कभी तुमने देखा कि मैं [illegible]?"

"क्या आप खुश नहीं?" उसकी आँखों में आश्चर्य था।

मेरी दो वर्ष से दबी हुई खिन्नता उभर गयी। मैंने कहा, "क्या तुम समझती हो कि यही मेरा जीवन है? मेरा जीवन वही था, जिसमें मैं लिखने को ज्यादा-से-ज्यादा समय पा जाता था। पर इतने से तुम्हारा काम नहीं चलता था। मैं यहाँ चला आया। मुझे इसका अफ़सोस नहीं। क्योंकि मैंने वादा किया था कि मैं अच्छा संगी होने का प्रयास करूँगा। यह असफलता मेरी नहीं, तुम्हारी है। तुमने [illegible]—और उसे [illegible] बना दिया।"

मेरी पत्नी का मुँह लाल हो गया। "आपने मुझे ग़लत समझा है। आप नौकरी छोड़ दीजिए !" क्रोध के मारे वह सिर्फ़ इतना ही कह सकी।

मैंने नौकरी छोड़ दी। इसके बाद कौशल्या ने मेरी कितनी सहायता की; कैसे मुझे यक्ष्मा के चंगुल से निकालकर फिर इस योग्य बनाया कि मैं स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सृजन कर सकूँ, इसे सभी जानते हैं। और फिर गत वर्ष वह दिन भी आया कि मुझे दिल्ली में हज़ार-बारह सौ की नौकरी ऑफ़र हुई तो खबर मिलते ही बिना इत्तला दिये, वह दिल्ली पहुँच गयी और उसने मुझे वह नौकरी नहीं करने दी।

लेखक और प्रकाशन

मेरे जो विचार नौकरी और फ़िल्मी दुनिया के बारे में हैं, वही प्रकाशन पर भी लागू होते हैं। लेखक यदि साहित्य-सृजन की सुविधा के लिए प्रकाशन को साधन बनाता है तो मैं समझता हूँ, कोई हानि नहीं, पर यदि प्रकाशन उसके लिए अपने में साध्य बन जाता है तो मेरे खयाल में इससे घातक नौकरी या फ़िल्मी दुनिया भी नहीं, क्योंकि कुचक्र यहाँ उन दोनों की अपेक्षा कहीं निर्मम और हानिकर है। व्यक्तिगत रूप से मैंने प्रकाशन को, कम-से-कम अभी तक, अपने साहित्य-सृजन की राह में बाधक नहीं बनने दिया। प्रकाशन [illegible] के लिए नहीं [illegible], बल्कि साहित्य-सृजन की सुविधा पाने के [illegible] और मैं अपने निश्चय में यदि पूर्णतः नहीं तो इसमें काफ़ी सफल हुआ हूँ। प्रकाशन आरम्भ करने से पहले मैं लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें लिख चुका था, लेकिन पुस्तकों की रायल्टी से मेरी मासिक आय कभी एक हज़ार रुपये से अधिक नहीं हुई। और उस समय मैं २० प्रतिशत रायल्टी पाता था। अब मैं दस और पन्द्रह प्रतिशत रायल्टी पाता हूँ और मेरी मासिक आय आठ-नौ हज़ार तक जाती है।

इस आर्थिक सुविधा के अतिरिक्त मुझे यह भी सन्तोष है कि पुस्तकें पहले से सुन्दर और सुरुचिपूर्ण ढंग से छपती हैं और बेहतर रूप से प्रकाशित होती हैं।

फिर इन वर्षों में न केवल मेरी अपनी सभी पुस्तकों के संशोधित और परिवर्धित संस्करण छपे हैं, वरन् तीन नये उपन्यास, दो कहानी-संग्रह, दो बड़े नाटक, एक एकांकी-संग्रह, दो लेख-संग्रह, एक खण्डकाव्य और कुछ नयी कविताएँ भी लिखी हैं। इनमें यदि सब चीजें उच्चकोटि की नहीं तो कोई निम्नकोटि की भी नहीं, और यद्यपि मैं इस कृतित्व से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं, किन्तु निराश भी नहीं और आशावादी हूँ कि यदि मेरे स्वास्थ्य ने मेरा साथ दिया तो मैं निश्चय ही बेहतर चीज़ें लिखूँगा।

लेखन-प्रकाशन का समन्वय आज की अवस्था में अत्यन्त कठिन है। साधारण लेखक के बस की यह बात नहीं। बड़ा कष्टसाध्य और श्रमयुक्त यह काम है। फिर कदम-कदम पर इसमें गढ़े और खाइयाँ हैं। मेरे लिए सफलता से इसे निभा लेना इसलिए भी सम्भव है कि मैं दैनिक-पत्रों, आल इण्डिया रेडियो, पब्लिक रिलेशन्स विभाग और फ़िल्मिस्तान की नौकरियों में अपने साहित्यकार की रक्षा करता आया हूँ और इस कला में काफ़ी निपुणता मैंने प्राप्त कर ली है। इसी के बल पर मैं प्रकाशन के कुचक्र में अपने साहित्यकार की रक्षा करता हूँ। फिर प्रकाशन का अधिकांश बोझ मेरी पत्नी ने अपने कन्धों पर ले रखा है। दिन-रात अथक श्रम करके उसने मुझे लिखने की सुविधा दी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका [illegible] [illegible] [illegible]

प्रकाशन के इस चक्र से निकाल लूँगा और वह लेखन-कार्य के लिए निश्चय ही कुछ समय पा सकेगी।

जब मैंने प्रकाशन शुरू किया था तो मेरे दिमाग में बड़ी स्कीमें थीं और मुझे पूरा यकीन था कि मैं काफ़ी लेखकों को प्रकाशकों के चंगुल से निकाल दूँगा। मैंने जो प्रयास किया, उसमें मैं सफल भी हुआ और मेरी देखा-देखी अब दूसरे प्रकाशक लेखकों से आधा खर्च लेकर बेहतर शर्तों पर उनकी पुस्तकें छापने लगे हैं। यदि कहीं हिन्दी के आठ-दस लेखक मिलकर यह काम करें तो वे न केवल स्वयं अपनी कृतियों का पूरा लाभ उठा सकते हैं, बरन् उन लेखकों को भी इस योग्य बना सकते हैं जो स्वयं रुपया नहीं लगा सकते। मुझे अपनी स्कीमों के सही होने में जरा भी शक नहीं। दुर्भाग्य से हिन्दी का लेखक प्रकाशक के हाथों इतना ज्यादा ठगा गया है कि उसकी दृष्टि में प्रकाशन ठगी का पर्यायवाची होकर रह गया है। उसे बीस प्रतिशत रायल्टी का वादा करके वास्तव में दस प्रतिशत ही दी जाय तो वह सन्तुष्ट हो जायगा, पर यदि उसे ईमानदारी से १० प्रतिशत ही का वादा किया जाय तो वह न केवल इसे ठगी समझेगा, बरन् उसके अहम् को भी इतनी कम रायल्टी लेना स्वीकार न होगा। और उस समय जब प्रकाशक एजेण्टों को सवा तैंतीस से ४० प्रतिशत तक कमीशन देने को बाधित हैं और बिकती पुस्तकें [illegible] होती हैं और शेष पड़ी गोदामों में सड़ती हैं, वे दयानतदारी से दस-पन्द्रह प्रतिशत से अधिक रायल्टी नहीं दे सकते। आपस के [illegible] से लेखक को ७५ प्रतिशत रायल्टी मिल सकती है, पर ऐसे घनिष्ठ [illegible] में [illegible] और [illegible] तथा अपने [illegible] लेखकों को [illegible] में भाग लेने से हिन्दी का लेखक [illegible] भी नहीं, पर मैं [illegible] कि समय आयेगा जब [illegible] का [illegible] रखते हुए भी वह अपने [illegible] के लिए, [illegible] पसन्द करेगा और [illegible]

और सहयोगी प्रकाशन संस्था खोले, अपनी कृतियों का अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक पायेगा।

व्यक्तिगत रूप से मैंने अकेले दम यह करने का इरादा छोड़ दिया है, क्योंकि मैंने पाया है कि वर्तमान स्थिति में इसमें अपार समय को गंवाने के अलावा सिवा गालियों के अभी कुछ हाथ नहीं आयेगा। अपनी प्रकाशन संस्था से मैंने अपने अथवा अपने कुछ निकटस्थ मित्रों की पुस्तकों के प्रकाशन के अलावा दूसरी स्कीमें चालू करने का खयाल छोड़ दिया है। पर दूसरे यह करें, इसका भरसक प्रयत्न मैं अब भी कर रहा हूँ। हिन्दी में एक ऐसी प्रकाशन संस्था की आवश्यकता है जिसमें रुपया लेखकों का लगा हो और यदि दूसरों का लगा हो तो केवल उधार पर हो और उसकी सारी व्यवस्था लेखकों के हाथ में हो। आज नहीं तो कल ऐसी संस्था जरूर खुलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

आगामी प्रोग्राम

इरादे बाँधता हूँ, सोचता हूँ, तोड़ देता हूँ

आगे लिखने के बारे में मेरी स्थिति भी कुछ ऐसी ही दुविधा-भरी रहती है। मेरे सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि मैं प्रोग्राम बनाकर लिखता हूँ। लेकिन बात वास्तव में वैसी नहीं। नियमित रूप से लिखता हूँ, यह ही ठीक है, लेकिन [illegible] प्रोग्राम के अनुसार लिखता हूँ, ऐसी बात नहीं। [illegible] [illegible] कहानियाँ और [illegible] [illegible] में सुरक्षित हैं। उन पर सोचता

भी रहता हूँ, पर इनमें से क्या लिख पाऊँगा और लिख पाऊँगा तो कौन-सी चीज़ पहले लिखूँगा, यह कहना मुश्किल है।

अब तक जो चीज़ें लिखी गयी हैं, उनके बारे में सोचता हूँ तो पाता हूँ कि कहीं कुछ भी निश्चित प्रोग्राम के अनुसार नहीं लिखा गया। अपने तीनों पहले उपन्यास—'सितारों के खेल', 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' मैंने कई-कई बरस में लिखे। 'सितारों के खेल' १९३४ में शुरू किया था और १९३८ में जब मैं डेढ़-दो महीने लगातार बिस्तर पर पड़ा रहा, मैंने उसे समाप्त कर दिया। लेकिन इस बीच में न केवल मैंने कानून पास किया, पहली पत्नी की लम्बी बीमारी और मौत देखी, बल्कि लगभग डेढ़ दर्जन कहानियाँ, 'जय-पराजय'-सा बड़ा नाटक, प्रातःप्रदीप की सारी कविताएँ, [illegible] 'उर्दू काव्य की नयी धारा' और तीन-चार एकांकी लिखे।

'गिरती दीवारें' मैंने १९३८ में शुरू किया, और प्रीतनगर और दिल्ली से होते हुए बम्बई में जाकर १९४५ में ख़त्म किया। इस बीच में 'प्रीत लड़ी' का सम्पादन, रेडियो और फ़िल्म की नौकरी ही नहीं की, बल्कि 'स्वर्ग की झलक,' 'छठा बेटा,' 'क़ैद,' 'उड़ान' और 'भँवर' जैसे बड़े नाटक लिखे, और [illegible] के अतिरिक्त एकांकी, आठ-दस कहानियाँ और [illegible] की सभी कविताएँ लिखीं।

'गर्म राख' मैंने १९[illegible] में शुरू किया था तो सोचा था कि एक ही [illegible], [illegible] और रेडियो के लिए [illegible] हुआ। [illegible] 'गर्म राख' [illegible] में लिखे गये।

फिर यही नहीं कि लिखने का काम बीच में भटक गया, कई बार कृति का कलेवर ही बदल गया। 'गिरती दीवारें' मैं अधिक-से-अधिक नौ या कम-से-कम तीन भागों में लिखना चाहता था, लेकिन उसका एक ही भाग सात वर्ष ले गया तो शेष की कौन कहे।

अपने दोनों नये लघु-उपन्यास 'बड़ी बड़ी आँखें' और 'पत्थर-अल-पत्थर' मैंने अपेक्षाकृत कम समय में लिखे—दोनों दो-दो वर्ष में। लेकिन 'बड़ी बड़ी आँखें' मैं चार-पाँच सौ पृष्ठ का लिखना चाहता था और पत्थर-अल-पत्थर उपन्यास नहीं, कहानी के रूप में मेरे दिमाग में आया था।

'बड़ी-बड़ी आँखें' में जिस जीवन का चित्रण मैं करना चाहता था, उसके सम्बन्ध में मेरा ख़याल था कि कम-से-कम चार-पाँच सौ पृष्ठ दरकार होंगे। कई पात्र और उनकी ज़िन्दगी मेरे मानस-पट पर अंकित थी और एक बड़े कैनवस पर उसका चित्रण मैं करना चाहता था, इसीलिए उन तमाम अनुभूतियों को फुर्सत में चित्रित करने का प्रोग्राम मैं बनाये हुए था। लेकिन पिछले दिनों मेरे मित्र श्री गोपालदास इलाहाबाद रेडियो स्टेशन के इन्चार्ज होकर आये तो उन्होंने इलाहाबाद रेडियो के लिए आठ-दस किस्तों में एक लघु-उपन्यास लिखने के लिए मुझसे अनुरोध किया। हम दोनों रेडियो में इकट्ठे काम करते रहे हैं, इसलिए उनका अधिकार भी मुझ पर था। लेकिन लघु-उपन्यास मेरे प्रोग्राम में नहीं था, इसलिए लिखने का वादा करने पर भी मैं टाल रहा था। तभी एक दिन उन्होंने ताना दिया—"तुम लघु-उपन्यास लिख ही नहीं सकते, तुम लम्बे-लम्बे, मोटे-मोटे, [illegible] लिखते हो। लघु-उपन्यास बड़ी नाज़ुक-सा [illegible]।"

उनकी बात मुझे लग गयी। मैंने कहा, "अभी मैं तुम्हें तीन कथानक सुनाता हूँ, तुम्हें जो पसन्द हो, चुन लो, मैं [illegible] और [illegible] किस्तों में चाहोगे, उतने ही में लिख दूँगा। [illegible]"

मैंने उन्हें दो-तीन कथानक सुनाये जो मेरे दिमाग में थे। 'बड़ी-बड़ी आँखें' की थीम उन्हें जँच गयी और मैंने लिखने का वादा कर दिया।

यद्यपि मैं यथासम्भव अपने वादे पूरे करने का प्रयास करता हूँ, पर वादा कर देने के बावजूद उपन्यास लिखा ही जाय, यह जरूरी नहीं, क्योंकि इस तरह जमकर एक ही चीज लिखने की मेरी आदत नहीं। लेकिन तब परिस्थिति भी अनुकूल हो गयी। इलाहाबाद में हर साल स्वदेशी नुमाइश लगती है। मेरी बीवी ने कुछ मित्रों के कहने पर प्रदर्शनी में स्टाल ले लिया। काम जो भी वह हाथ में ले, बड़ी निष्ठा से करती है। शाम को वह स्टाल पर खुद जाती और रात के एक बजे लौटती। मेरी नींद बड़ी कच्ची है। यदि मुझे खयाल हो कि रात को बारह-एक बजे कोई आयेगा तो मैं सो नहीं सकता। इसलिए मैंने यह प्रोग्राम बनाया कि दिन को सोता और रात को एक बजे तक बड़े इतमीनान से लिखता। गोपालदास ने चूँकि मेरे वादे पर उपन्यास शेड्यूल कर दिया था, इसलिए उन्हें समय से मसौदा देना जरूरी था (मेरे साथ सदा यह होता है कि कहीं मुझे कोई चीज भेजनी होती है तो कुछ ऐसी एकाग्रता हो जाती है कि जो चीज सामान्यतः महीनों में न बने वह दिनों में लिखी जाती है।) डेढ़-दो महीनों में साधारणतः मैं पूरी कहानी भी नहीं लिखता, पर २५० पृष्ठ का उपन्यास मैंने लिख डाला और चूँकि १५०० पृष्ठों में फैले सारे जीवन को २५० पृष्ठों में समेटना पड़ा, इसलिए बहुत कुछ कट गया और उपन्यास में कुछ ऐसा कसाव आ गया जो मेरे किसी भी पहले उपन्यास में सम्भव न हुआ था।

'बड़ी-बड़ी आँखें' [illegible] से प्रकाशित हुआ, साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक रूप में छपा, केन्द्रीय सरकार से मुझे उस पर दो हजार रुपये का पुरस्कार भी मिला और समीक्षकों ने उसकी कला, शैली और चरित्र चित्रण की प्रशंसा की, लोकप्रिय भी वह खूब हुआ, पर मुझे अब भी

उन पात्रों और अनुभूतियों की याद आती है, जिनका चित्रण मैं इसमें करना चाहता था, लेकिन जिन्हें उपन्यास की लघुता ने अनावश्यक बना दिया। जाने उन्हें मैं कभी चित्रित कर भी सकूंगा कि नहीं।

'पत्थर-अलपत्थर' का रूप पहले कहानी का था, उसी रूप में यह 'धर्म युग' में छपा भी, पाठकों ने उसकी प्रशंसा भी की, पर जब साल भर मसौदा मेरे दराज में पड़ा रहा और उसके बाद मैंने उसे पढ़ा तो मुझे न केवल यह लगा कि उसका आरम्भ उपन्यास-सा हुआ है और अन्त कहानी का-सा यानी आधा भाग उपन्यास का-सा है और आधा कहानी का-सा—बल्कि मुझे उसमें और भी कई त्रुटियाँ लगीं। तब मैंने इसे फिर दो-तीन बार लिखा और दो-तीन वर्ष के बाद यह छपा। इस बीच में 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' की कहानियाँ, कई लेख और दो-तीन एकांकी लिखे।

यही हाल मेरे नाटकों का है। 'कैद' और 'उड़ान'—अपने दोनों नाटक मैंने तीन-तीन वर्ष के अर्से में लिखे और इस बीच में कई बार उनका संशोधन-परिवर्द्धन किया। १९४३ में उनके पहले मसौदे लिखे गये और १९४६ में वे समाप्त हुए। 'अलग अलग रास्ते' और 'अंजो दीदी' भी दस-दस बरस रखे गये। इन नाटकों को लिखने का ख़याल जब आया तो मैं रेडियो में नौकर था और मुझे हर दूसरे महीने कम-से-कम एक नाटक देना पड़ता था। 'अलग अलग रास्ते' तथा 'अंजो दीदी' के आधारभूत विचार मेरे दिमाग़ में आये तो ख़याल था कि 'स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' की तरह ये नाटक भी बड़े ही लिखूँगा। लेकिन रेडियो पर सब से बड़ा नाटक पैंतालीस मिनट का होता था। सो 'अलग अलग रास्ते' का [illegible] पैंतालीस मिनट में लिखकर 'अजनबी [illegible]' (आदि मार्ग) [illegible] दे दिया। 'अंजो दीदी' का [illegible] आया कि उन्होंने

इसे प्रोड्यूस कर दिया। और यद्यपि 'आदि मार्ग' (अजनबी रास्ते) तो ज्यादा नहीं खेला गया, पर 'अंजो दीदी' का वह पहला अंक ही जगह-जगह स्टेज हुआ। १९५२–५३ तक ये दोनों नाटक एकांकी के रूप ही में छपते और खेले जाते रहे। लेकिन मेरे मन में सदा इस बात की हसरत रही कि मैं इन्हें अपनी इच्छा के अनुसार पूरा नहीं कर सका। जब भी कभी नया नाटक लिखने की बात मन में उठती, सदा यह ख़याल आता कि पहले इन्हें पूरा करना चाहिए। पाँच-छः वर्ष पहले [illegible] के स्टेज पर मेरा नाटक 'छठा बेटा' बड़ी सफलता से खेला गया तो मेरा ध्यान बार-बार इन नाटकों की ओर जाने लगा। रह-रह कर विचार आने लगा कि सब काम छोड़कर मैं उन्हें पूरा करूँ। आखिर १९५२ में मैंने 'आदि मार्ग' मन के मुताबिक तीन अंकों में लिख डाला। यह नाटक 'पैलेस थियेटर' (इलाहाबाद) में खेला गया और इतना सफल हुआ कि गत तीन-चार वर्षों में न केवल कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल हुआ, [illegible] भाषा में उसका अनुवाद [illegible] और [illegible] पर दिखाया भी गया। १९५[illegible] [illegible] तो [illegible] 'अंजो दीदी' [illegible] और मैंने इसका दूसरा अंक लिखकर इसे [illegible]। जो भी पाठक, [illegible] या श्रोता इन नाटकों के पहले रूप को पढ़, देख या सुन चुके हैं, [illegible] कि मैं दस वर्ष तक इस रोग को व्यर्थ [illegible] रहा।

*

लेकिन [illegible] जो मैं [illegible] लिखना चाहता था, पर [illegible] वर्षों लग गए, [illegible] लिखने का ख़याल भी न था और तत्काल लिखी गयीं। '[illegible]' ऐसा ही नाटक है।

*

१९३५–३६ की बात है, मैं नया-नया हिन्दी में लिखने लगा था। लाहौर में उन दिनों कुछ हिन्दी लेखक बाहर से आये थे —— स्थानीय स्कूलों में हिन्दी अध्यापक अथवा लाहौर से उन्हीं दिनों निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादक होकर ! धीरे-धीरे उन सबसे मेरी जान-पहचान हो गयी। उन्हीं में एक मित्र कवि तथा नाटककार थे। वे मुझे हिन्दी क्षेत्र में सफलता से पदार्पण करने के गुर बताया करते थे। मैं यद्यपि उर्दू में काफ़ी नाम पा चुका था, पर वे बड़ी सरपरस्ती से मेरे कन्धों पर हाथ रखकर चला करते थे। उन्होंने एक बार परामर्श दिया कि यदि मुझे हिन्दी में नाम पाना है तो मुझे एक ऐतिहासिक नाटक लिखना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैंने कभी ऐतिहासिक नाटक नहीं लिखा तो वे बोले, 'इसमें मुश्किल की कौन-सी बात है, 'टाड राजस्थान' पढ़कर कोई कथानक चुन लो और कल्पना को उन्मुक्त छोड़ दो।' जब मैंने वादा किया कि मैं कोशिश करूँगा तो कुछ रुककर उन्होंने मुझे समझाया कि वे उसकी भाषा देख लेंगे और नाटक दोनों के नाम से छप जायगा। 'तुम अभी हिन्दी में उतने प्रसिद्ध नहीं, तुम्हारे नाम से लिखा नाटक कोई प्रकाशक छापने को तैयार न होगा।' उन्होंने समझाया, 'प्रकाशक मैं ढूँढ़ लूँगा और हम रायल्टी आधी-आधी बाँट लेंगे।'

मेरी पत्नी मरणासन्न थी और मुझे रुपये की बड़ी ज़रूरत थी। मैं मान गया। पर अभी मैंने एक पंक्ति भी न लिखी थी कि उन मित्र ने सारे लाहौर में यह प्रचार कर दिया कि आधा नाटक लिख कर उन्होंने मुझे दे दिया है और उसे मैं पूरा कर रहा हूँ। [illegible] यह भी [illegible] कि उन्होंने नाटक समाप्त कर मुझे दे दिया है और मैं साफ़ कापी तैयार कर रहा हूँ। मुझे बड़ा क्रोध आया और मैंने नाटक लिखने की बात मन से निकाल दी, अरसा-ऐक बरस गुज़र भी गया, लेकिन उन मित्र महोदय ने उस खाते एक प्रकाशक से कुछ रुपया भी पेशगी ले रखा था। वह मेरे पास आया। तब

मैंने उससे साफ़ कह दिया कि वह नाटक चाहता है तो दो बातें उसे माननी होंगी :

पहली यह कि नाटक पर सिर्फ़ मेरा नाम जायगा। दूसरी यह कि सौ रुपया उसे मुझे पेशगी देना होगा और जब मैं लिख दूँ तो शेष रायल्टी भी उसे मुझको दे देनी होगी।

प्रकाशक तैयार हो गया, इस शर्त पर कि पहले संस्करण पर वह मुझे एक रुपया प्रति पृष्ठ देगा और शेष एडीशनों पर ५० रुपया प्रति संस्करण से ज्यादा न देगा। नाटक २०० पृष्ठ का लिखा जायगा, यह तय हो गया। १०० रुपये मुझे मिल गये। मेरी पत्नी का देहान्त उन्हीं दिनों हुआ था और मेरे सिर पर लगभग इतने ही रुपये कर्ज़ थे। सो मैंने प्रकाशक से रुपया लेकर कर्ज़ चुकाया और नाटक लिखने में जुट गया। २०६ पृष्ठ का नाटक डेढ़-दो महीने में लिखकर मैंने प्रकाशक को दे दिया। 'जय पराजय' अब तक अस्सी हज़ार के लगभग बिक चुका है। मुझे उसमें चाहे ज़्यादा न मिला हो, पर वह जिस उद्देश्य से लिखा गया था, उसमें असफल नहीं रहा, इस बात का मुझे सन्तोष है। अभी हाल ही में, जैसा कि मैंने ऊपर लिखा, वह दक्षिण अफ़रीका में बड़ी शान से खेला गया है और दो वर्ष पहले उसका संक्षिप्त [illegible] रेडियो से प्रसारित हुआ है।

*

अब तक जो लिख रहा हूँ, उसकी दास्तान कुछ ऐसी ही है, इसलिए आगे जो लिखा जायगा, वह भी कुछ इसी तरह लिखा जायगा। टैगोर, [illegible] या गाल्सवर्दी जैसी सुविधा हमारे पास होती तो मन के मुताबिक प्रोग्राम बनाकर [illegible] लिखते, लेकिन मेरी स्थिति तो ऐसी थी नहीं। रोटी कमाने और कुटुम्ब का पेट पालने, बीमारियों से जूझने और

स्वतन्त्र रहकर साहित्य-सृजन कर सकने के लिए कठिनतम संघर्ष करते हुए थोड़ा समय निकालकर लिखना पड़ता है और चूँकि लगातार समय नहीं मिल पाता, इसलिए एक ही लम्बी बैठक में कोई चीज समाप्त नहीं होती। हो जाती है तो मन के अनुसार उसका परिमार्जन करने में महीनों लग जाते हैं। नाटकों और कहानियों के पहले मसौदे कई बार महीनों-वर्षों फ़ाइलों में पड़े रहते हैं। कई बार दो बार लिखने पर भी सन्तोष नहीं होता तो अन्तिम रूप में आने के लिए उन्हें महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। एक बार जो चीज लिखी जाती है, कई बार उसकी त्रुटियाँ उसी समय दिखायी नहीं देतीं, इसलिए मैं प्रायः पाँच-छः महीने से पहले पहला लिखा मसौदा नहीं उठाता। कई बार किसी मित्र अथवा सम्पादक के अनुरोध पर रचना छपने को भेज देता हूँ, तो पुस्तकरूप में देने से पहले उसे प्रायः बदल देता हूँ।

ऐसी स्थिति में आगे क्या लिखा जायगा यह कहना कठिन है। तो भी सोचता हूँ कि सबसे पहले उन चालीस-पचास लेखों, निबन्धों और संस्मरणों को छाँटकर पुस्तक-रूप दूँ जो पिछले कई वर्षों में समय-समय पर रेडियो के लिए, किसी पत्रिका के लिए अथवा यों ही लिखे गये हैं।* इसके बाद हो सकता है उन पाँच-छः एकांकियों को दोबारा या सह-बारा लिखूँ जो गत दो-तीन वर्षों में मैंने लिखे हैं और जो अभी तक अप्रकाशित मेरी फ़ाइलों में पड़े हैं।

यह भी हो सकता है कि मैं 'गिरती दीवारें' का दूसरा भाग आगे बढ़ाऊँ। गत वर्ष (१९५७ में) डलहौजी गया था तो मैंने 'गिरती दीवारें' के दूसरे भाग के ५ परिच्छेद लिखे थे। पर यह भी हो सकता है कि मैं

---

* कुछ लेख और संस्मरण 'रेखाएँ और चित्र' में आये हैं, कुछ प्रस्तुत संग्रह में संकलित हैं, शेष किसी आगामी संकलन में आयेंगे।

उपन्यास लिखने बैठूँ तो कविता करने लगूँ। गत वर्ष यही हुआ था। 'गिरती दीवारें' का दूसरा भाग लिखने का प्रोग्राम बना कर गया था, पर वहाँ कुछ ऐसा मूड बना कि महीना भर कविताएँ ही लिखता रहा। अब मन की स्थिति ऐसी है कि 'गिरती दीवारें' भी लिखना चाहता है और कविताएँ भी। कई कविताओं की पहली पंक्तियाँ नोटबुक में लिखी पड़ी हैं और 'गिरती दीवारें' तो सारे का सारा मैं न जाने कितनी बार कल्पना-ही-कल्पना में लिख चुका हूँ। यह बात सत्य है कि यदि मुझे दो वर्ष की छुट्टी मिल जाय और मैं इलाहाबाद छोड़कर कहीं गाँव में या पहाड़ पर जा बसूँ तो 'गिरती दीवारें' के शेष दोनों भाग लिखकर ही लौटूँ, फिर मेरा मन न भागे, न भटके, लेकिन इस स्थिति में जब प्रेसों के चक्कर लगाते, कम्पोजीटरों, प्रूफ़रीडरों और मशीनमैनों के साथ माथापच्ची करते, आर्टिस्टों, ब्लाकमेकरों, दफ़्तरियों और कागज़ के व्यापारियों की मिन्नत-खुशामद करते और [illegible] देते, लिखने को समय [illegible] छोटी चीज़ें ही लिखने का [illegible]।

इधर [illegible] हुई [illegible] का एक वृहद् संग्रह निकला है और मित्रों ने मेरे कहानी-लेखक का फ़ातिहा पढ़ दिया है। [illegible] है कि ऐसे संग्रह तभी छपते हैं जब लेखक के पास कुछ और लिखने को नहीं रहता और मेरी स्थिति यह है कि शायद मैं अगले कुछ महीने तीन-चार कहानियाँ ही लिख डालूँ। [illegible] कि [illegible] और [illegible] की यात्राओं के सम्बन्ध में मैंने जो [illegible], वही [illegible] शुरू कर दूँ। दो बड़े [illegible] रहे हैं, यही कागज़ पर [illegible] दूँ। [illegible] 'हिज़ [illegible]' [illegible] चाहता हूँ, [illegible] हूँ, [illegible] कविताएँ लिखूँगा, वृहद् उपन्यास,

कहानियाँ, एकांकी नाटक, खण्डकाव्य अथवा हीर वारिसशाह, मैं निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता।

महान रूसी साहित्यकार एंटन चेखव ने अपने नाटक 'सी-गल' में उपन्यासकार ट्रिगोरिन की मनोदशा का जो चित्र खींचा है, वास्तव में कुछ वैसी ही मनोदशा में अपने को पाता हूँ। एक ही वक्त में बीसों विचार मन में हुड़दंग मचाये रहते हैं, तूफान की जद में आये हुए पथिक सा मैं कभी इधर भागता हूँ, कभी उधर। कहीं रुक नहीं पाता, कहीं टिक नहीं पाता। लगता है, कोई अदृश्य शक्ति दिखायी न देने वाले, बेरहम कोड़ों की मार से मुझे आगे धकेले जाती है। लिखते चले जाने को विवश किये जाती है। एक चीज लिख चुकता हूँ तो दूसरी शुरू कर देता हूँ, दूसरी खत्म होती है कि तीसरी में हाथ लगा देता हूँ, तीसरी ही चुकती है तो चौथी लिखने का बहाना ढूँढ़ निकालता हूँ। कभी कभी साथी ऊब उठते हैं। 'क्यों जान दिये दे रहे हो, आराम करो। कुछ वर्ष तक मौन धर लो, पढ़ो और गुनो, तुम बेहतर लिखोगे। इस तरह तुम बीस साल जीने के बदले दस बरस में खत्म हो जाओगे।' वे कहते हैं। मैं खुद भी इस बात को समझता हूँ, लेकिन न जाने क्या बात है कि बिना लिखे कल नहीं पड़ती। जब मेज पर नहीं बैठता, कलम हाथ में नहीं होता तो अपने को बेहद अशक्त, कमजोर, बीमार और उदास पाता हूँ। पढ़ना और लिखना मेरे दोनों काम साथ-साथ चलते हैं।

*

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो गरीबी में लिखते हैं, पैसा आ जाय, इतमीनान हो [illegible] लिखना छोड़ बैठते हैं। दूसरे होते हैं जो सुख-सुविधा के [illegible] में, मजे से पान चबाते [illegible] लिखते हैं और दुख का पलड़ा [illegible] ही उनके होश-हवास गुम कर देता है। [illegible] जो [illegible] तक नहीं बँधती, [illegible] जानते हैं

और अपनी कुण्ठा को कहानी, कविता, नाटक का रूप देते रहते हैं, लेकिन जब किसी तन्वंगी का साहचर्य पाते हैं तो खूंटे से बँधकर वहीं के हो रहते हैं, फिर उन्हें न तो कविता की सूझती है न कहानी की। मेरे लिए लिखना जीने-सरीखा ही है। लिखता हूँ तो लगता है, जीता हूं। मैंने कई बार इससे भागने का प्रयास किया है, पर हमेशा मेरे प्रयास असफल रहे हैं। गरीबी हो या अमीरी, बीवी-बच्चे हों या न हों, जब तक दिमाग़ जैसा कि है, रहेगा, मैं निरन्तर लिखता रहूँगा। पागल या अपाहिज हो गया तो बात दूसरी है।

लिखता रहूँगा...यह निश्चित है। क्या लिखूँगा? यह निश्चित नहीं है। जितना कुछ लिखना चाहता हूँ उसे लिख लूँगा तो और लिखने की न सोचूँगा, ऐसी बात भी नहीं। अमरीकी उपन्यासकार हैमिंगवे की प्रसिद्ध कहानी 'स्नोज आफ़ किलमंजेरो' के नायक की तरह मुझे यकीन है कि लिखने के बारे में मेरे हज़ारों अरमान पूरे हो जायँ तो भी......

रह जायेंगे फिर भी मेरे अरमां बाकी।